बदलाव की पुरवैया

महाराष्ट्र में कृषि और खाद्य सुरक्षा की बेहतरी के लिए समाज सरकार और सामाजिक नागरिक **संस्थाओं की पहल की कहानियां**

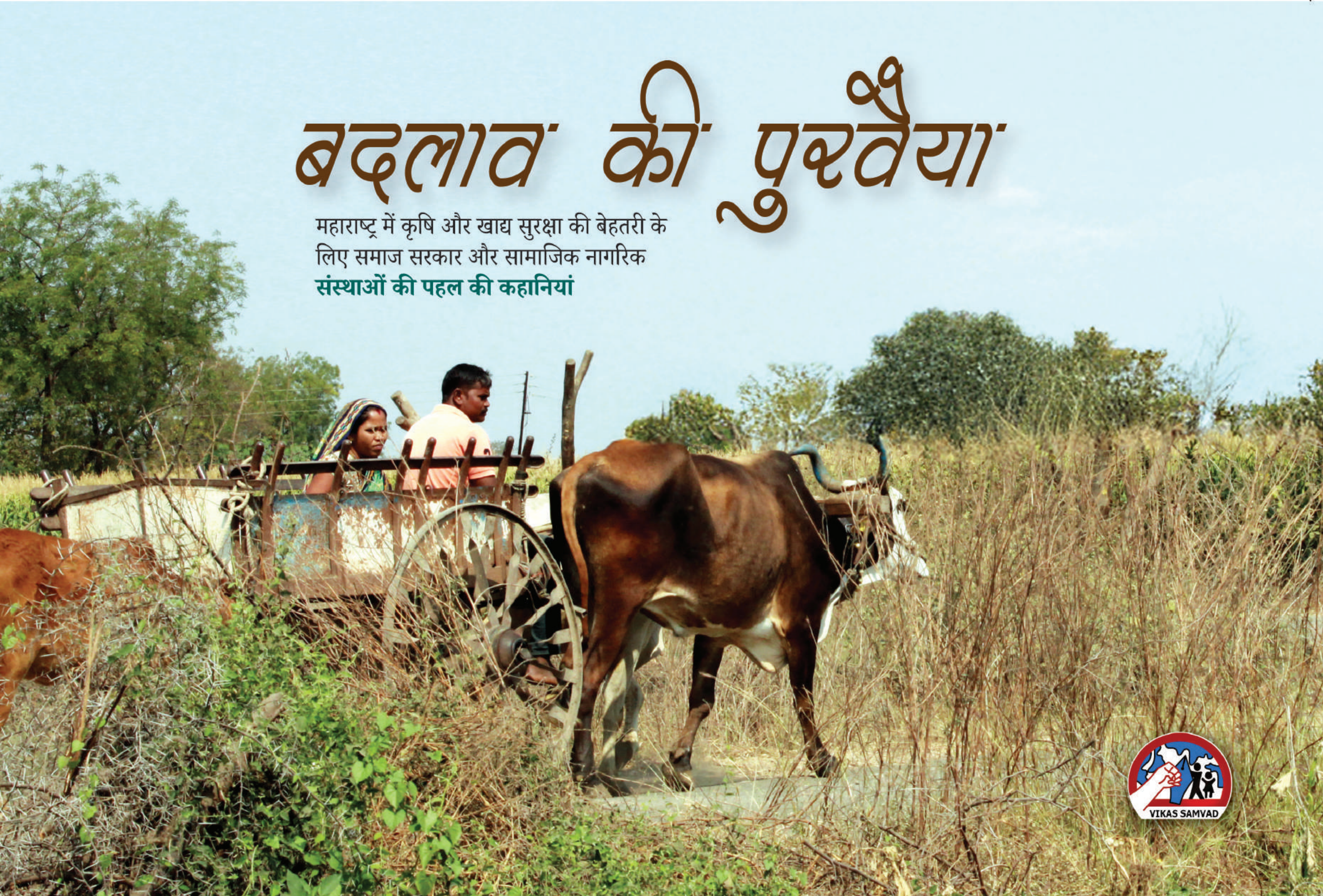

VIKAS SAMVAD

बदलाव की पुरवैया

लेखक : चिन्मय मिश्र, शिप्रा माथुर, बाबा मायाराम, साधना शुक्ला
मार्गदर्शन: सचिन कुमार जैन
समन्वय : राकेश कुमार मालवीय
डिजाइन : हितेंद्र तिवारी
प्रकाशक : विकास संवाद, मध्यप्रदेश
वर्ष : 2024
संस्करण : प्रथम
प्रतियां : 500
पता : ए-5, आयकर कॉलोनी, गुलमोहर, भोपाल
ईमेल : office@vssmp.org

साभार : इस पुस्तिका में शामिल फोटो संबंधित संस्थाओं के फेसबुक पेज़ से लिए गए हैं। हम उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

बदलाव की पुरवैया

महाराष्ट्र में कृषि और खाद्य सुरक्षा की बेहतरी के लिए समाज सरकार
और सामाजिक नागरिक संस्थाओं की पहल की कहानियां

VIKAS SAMVAD

अनुक्रमणिका

सेंटर फॉर बी डेवलपमेंट 09
मधुमक्खी: तीखे डंक का मीठा स्वाद

प्रभात विकास मंच 21
मानव गरिमा को दी नई पहचान

धरामित्र 29
कृषि परंपरा की पुनर्स्थापना

आदर्श केंद्रीय कृषि बहुउद्देशीय संस्था 37
जैविक खेती: बदलाव की आहट

कन्हैयालाल पालुर ग्राम विकास संस्था 49
हम नहीं जानते जैविक खेती कर रह

पानी फाउंडेशन 57
सूखे गांव जो पानीदार हो गए

अम्ही अमच्या आरोग्यसाथी 65
प्राकृतिक संसाधनों पर सामुदायिक अधिकारों...

हीलिंग लाइव्स 77
किसानों को समर्थ बनाने की पहल

सुभाष शर्मा कृषि फार्म 83
प्राकृतिक खेती जुडी है मानवीय मूल्यों से

ग्राम सेवा मंडल 93
जादुई शक्ति के पीछे का विज्ञान

रवाला फार्म्स 103
जैविक खेती को अपनाने का सफर

होम आम्ही षेतकारी फाउंडेषन 111
तकनीक से मुनाफे की मिठास

नाम फाउंडेषन 117
सूखे इलाके में पानी

मगन संग्रहालय 125
ग्रामीण औद्योगिक क्रांति का अग्रदूत

किसान अधिकार अभियान 133
आंदोलन से समाज को संस्कारित होना चाहिए

मातृ सेवा संघ, नागपुर 143
महिलाओं का, महिलाओं द्वारा परंतु सबके लिए

सेवाग्राम प्रतिष्ठान 155
सेवाग्रामः नए भारत की नींव

गौलाऊ गोवंष जतन (पालन) संवर्धन, संशोधन व पैदासकर चैरिटेबल ट्रस्ट 163
गौलव गायः शुद्धिकरण की वैज्ञानिक प्रक्रिया

भूमिका

खेती भारत देश का मुख्य आधार है, यह बार-बार साबित होता रहा है। आर्थिक मंदी में वह देश की अर्थव्यवस्था को गिरने नहीं देती और महामारियों में लोगों का सहारा बनती है, उन्हें रोजगार देती है, भोजन देती है, इसके बाद भी कृषि का कथानक यह है कि वह घाटे का सौदा है। वह भी ऐसा कि किसान खुद अपने बेटे को किसानी में नहीं डालना चाहता, क्योंकि उसकी मुश्किलें हजारों हैं। हालांकि हम जानते हैं कि असली उत्पादक तो किसान ही है, किसानी ही है, जो एक बीज से सैकड़ों दाने पैदा कर देती है।

भारतीय कृषि एक ऐसे दौर से गुजर रही है, जहां पर उस पर कई किस्म के संकट हैं। पिछले कई सालों से लगातार ऐसा माहौल तैयार किया गया है, जिसमें हमें लगता है कि खेती से कोई उम्मीद नहीं है, वह तो घाटे का ही सादा है। दूसरी तरफ बाजार है, जो चाहता है खेती से संबंधित संसाधनों पर उसका हक़ हो और वह इसके लाभ का बड़ा हिस्सेदार बना रह सके। एक तीसरा वर्ग है, जिसे खेती में दी जाने वाली राहतें देश के खजाने पर बोझ लगती हैं और वह इस मत पर पहुंचता है कि किसानों की रियायतें समाप्त की जानी चाहिए। वैश्विक दबावों का असर भी दिखाई देता है, जिसमें किसानों के मजदूरों में बदल जाने की स्थितियां नजर आती हैं।

संकट कहां है? और उसका हल हमें कहां दिखाई देता है? संकट वास्तव में है या बनाया गया है? किन-किन आयामों पर है? और उसके लिए क्या किया जाना चाहिए। ये कुछ ऐसे सवाल हैं, जो खेती-किसानी के शुभचिंतकों को हर मंच पर पूछना चाहिए। हमारे अनुभवों ने बता दिया है कि खेती बचेगी, तो ही देश भी बचा रहेगा। न केवल आर्थिक नजरिए से, बल्कि पर्यावरणीय और सामाजिक संबंधों के नजरिए से भी यह उतना ही महत्वपूर्ण है। रोजगार और आजीविका के नजरिए से भी जरूरी है और आधी आबादी को न्याय देने के नजरिए से भी।

इसलिए हमें संकटों के साथ उनके समाधान पर भी रोशनी डालते रहना चाहिए। रोशनी किसी भी हिस्से से आए। सरकार, समाज, संगठन कोई भी हो, उसे अपनी सामाजिक जवाबदेही के तहत इस सवाल पर सोचना ही चाहिए। सामाजिक नागरिक संस्थाओं ने इसमें अपनी महती भूमिका निभाई है। सामाजिक-नागरिक संस्थाएं देश के अलग-अलग हिस्सों में ऐसे मॉडल स्थापित कर रही हैं, जो स्थानीय पर्यावरण और समाज के अनुकूल हैं।

विकास संवाद ने इन्ही दो छोरों को एक साथ लाने की कोशिश की है और पिछले कुछ समय में इस काम को उभारने की कोशिश की है। चार राज्यों में ऐसे कुछ मॉडल्स को सीधे देखा समझा है और उनकी केस स्टडीज तैयार की हैं। वैसे हमारी कोशिश है कि देश के चार प्रमुख राज्यों में ऐसे प्रयोगों की कहानियों पर काम किया जाए। इस संकलन में हमने महाराष्ट्र की कहानियों को समाहित किया है।

ये अंतिम नहीं हैं, लगातार चलने वाली-बनने वाली कहानियां हैं। हम जानते हैं कि महाराष्ट्र की धरती पर इससे भी अच्छे प्रयोग समाज-सरकार ने किए होंगे, हमें उन तक पहुंचना शेष है। इसमें आप भी हमारी मदद कर सकते हैं। आपको यह संकलन उपयोगी लगेगा, हमें ऐसी आशा है। आपकी प्रतिक्रियाओं का हमें इंतजार रहेगा।

सादर
टीम विकास संवाद

सेंटर फॉर बी डेवलपमेंट

मधुमक्खीः तीखे डंक का मीठा स्वाद

महात्मा गांधी के आर्थिक विचारों को व्याख्यायित करते हुए अर्थशास्त्री डॉ. जे. सी. कुमारप्पा 'मधुमक्खी' को एक प्रतीक के रूप में चुनते हैं। वे लिखते हैं, 'चौथी सूरत गिरोहबंदी (समूह भावना) की है, जिसमें शहद की मक्खी आती है। वह शहद किस तरह जमा करती है? उसे वह लाकर छत्ते में भर देगी। वह यह नहीं कहती कि छत्ते में कोई ख़ास छेद मेरा है। सारे समूह के फायदे के लिए वह जमा करती है। वह अपने निजी खर्च के लिए नहीं, बल्कि सबके खर्च के लिए पैदा करती है। सारी मक्खियां एक खानदान की तरह रहती हैं। इसमें हक़ के जज्बे के बजाय फर्ज का जज्बा ज्यादा है। पैदावार खर्च से ज्यादा और बचत सबके काम आती है।'

गांधी अर्थविचार के महान विश्लेषक ने मधुमक्खी के प्रतीक को जिस तरह से उपयोग में लिया है वह मनुष्य को सामूहिकता में जीने के लिए प्रेरित करता है। यह कहानी शहद की मक्खी के सामाजिक योगदान को रेखांकित कर रही है।

सभ्यता में सामूहिकता, सामुदायिकता और मानवीयता ही आदिमतम पहचान है और इसकी प्रतिनिधि मधुमक्खी ही है। मधुमक्खी करोड़ों वर्ष से पृथ्वी पर मौजूद हैं, जबकि मनुष्य कुछ हजार वर्ष पूर्व ही ठीक तरह से विकसित हो पाया है। मनुष्य ने सामाजिक विकास के क्रम में इनसे पृथक जो एक नई प्रवृत्ति विकसित की, वह है व्यक्तिगत स्वार्थ! मधुमक्खी की प्रजातियां आज भी लोभ, लालच और स्वार्थ से परे हैं और वह जो शहद इकट्ठा करती हैं, उसका अधिकांश वह स्वयं प्रयोग नहीं करती। इतना ही नहीं उनके द्वारा किया जा रहा परागण अंततः पृथ्वी को जीवनमय बनाये हुए है। इसी की एक सहेली या बहन है ततैया! (Wasp) ततैया शहद इकट्ठा नहीं करती, परंतु वह एक ही समय में बार-बार काट सकती है, डंक मार सकती है, जबकि मधुमक्खी केवल एक बार ही डंक मार सकती है। शायद यह उसके रचनात्मक होने का भी सबूत है।

प्रकृति में फूलों के उद्गम के समानांतर ही मधुमक्खियों का भी उद्भव हुआ था। मधुमक्खियों ने ततैया के ठीक विपरीत स्वयं को पूर्णतः शाकाहारी बनाए रखने का निर्णय लिया। यह बात कोई 14 करोड़ से 7.4 करोड़ वर्ष के मध्य की है (Mesozoic-Creraceous Period) यह लेटिन शब्द है, जिसका अर्थ है चाक। यह चाकमयकल्प, खटीकल्प या क्रिटेशस कल्प कहलाता है, तब मधुमक्खी का प्रादुर्भाव हुआ था। मधुमक्खी का उद्गम स्थल, भारत के आसपास, दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया के आसपास हो सकता है। वैसे दुनियाभर में 20 से 40 हजार तरह की मक्खियां पाई जाती हैं, लेकिन इनमें से केवल 8 तरह की मधुमक्खियां ही मधु या शहद का उत्पादन कर पाने में सक्षम होती हैं। मनुष्य मधुमक्खियों का प्रबंधन पिछले करीब 8,500 वर्षों से कर रहा है। एशिया एवं यूरोप के मध्य स्थित तुर्की के एक महत्वपूर्ण क्षेत्र (जिसे एशिया माइनर भी कहते हैं) में इसके उद्गम के प्रथम प्रमाण मिलते हैं। मिस्र के पिरामिडों में सहेजकर रखी गई ममियों पर भी शहद का लेप किया गया था। पूरी सृष्टि में शहद ही ऐसा एकमात्र खाद्य पदार्थ है, जो कभी खराब नहीं होता। एक तरह से इसकी तुलना अमरता या अमृत से की जा सकती है।

मधुमक्खी के छत्ते से शहद निकालकर उसे बेचने की प्रक्रिया और ग्रामोद्योग का रूप देने की शुरूआत वर्धा में स्वयं 'महात्मा गांधी' ने की थी। उन्होंने मगनवाड़ी (संग्रहालय) को इसे ग्रामोद्योग की तरह विकसित करने की जिम्मेदारी दी। इसके लिए उन्होंने छोटेलाल जैन का चयन किया था। बापू कहते हैं, 'छोटेलाल हर काम में माहिर है, जब मैंने मगनवाड़ी में तेलघानी चलाने की बात की तो विनोबा से छोटेलाल को मांग लिया। जब मगनवाड़ी में मधुमक्खीपालन की बात चली, तो वह काम भी मैंने उसे ही सौंप दिया। उसने इसके पीछे रात-दिन एक कर दिया। जहां से जो साहित्य व जानकारी मिल सकती थी उसने वह इकट्ठा करी।' गांधी कहते हैं, 'शहद तो दूसरे भी जमा करते हैं, लेकिन जमा करने में हिंसा और गंदगी का कोई पार नहीं होता। हमको शहद भी चाहिए और हिंसा से भी बचना चाहिए। यह कार्य मधुमक्खीपालन के सिवा नहीं हो सकता। उसके शास्त्रियों ने सिद्ध कर दिया है कि एक भी मक्खी मारे बिना हमको उत्तम शहद मिल सकता है। तुमने मगनवाड़ी में छोटेलाल का काम देखा होगा। वह मां की तरह मक्खियों को संभाल कर रखता है।'

बापू के ग्राम स्वावलंबन के मिशन को आगे ले जाने के लिए बहुत से संस्थान और संस्थाएं लगातार सक्रिय रहीं। ग्राम सेवा मंडल, धरामित्र व मगन संग्रहालय जैसी संस्थाएं लगातार सक्रिय रहीं और कृषि व ग्रामीण परिवेश की बेहतरी के लिए निरंतर प्रयासरत भी रहीं। तमाम संस्थाएं शहद को लेकर कार्य करती रहीं और शुद्धता व गुणवत्ता को बनाए रखने में भी सक्रिय रहीं, परंतु इस सबके समानांतर यह महसूस हो रहा था कि एक ऐसी संस्था विकसित हो, जो कि केवल मधुमक्खी व शहद के क्षेत्र में ही पूर्ण विशेषज्ञता से कार्य करे। इसी को ध्यान में रखते हुए सन् 2000 में सेंटर फॉर बी डेवलपमेंट मधुमक्खी विकास केंद्र का गठन वर्धा शहर के देशपांडे ले-आउट, नालवाड़ी में किया गया। वर्तमान में इस संस्था के अध्यक्ष हैं श्री रोशन घोरे और सचिव हैं श्री गोपाल पालीवाल।

श्रीमती सुनीता पालीवाल यहां की प्रयोगशाला प्रभारी हैं। गौरतलब है श्री गोपाल पालीवाल ने 'मधुमक्खियों के मस्तिष्क' पर पीएचडी की है। इसमें आपके निदेशक थे डॉ. डी. बी. टेमरें इस हेतु उन्होंने 'सेंटर फॉर साइंस आफ विलेजेस (सीएसवी)', दत्तपुर में रहकर शोध किया। वहां पर श्री अमृतराव घाटगे ने आपका मार्गदर्शन किया। गौरतलब है श्री घाटगे को भी महात्मा गांधी ने मधुमक्खी का कार्य संभालने के लिए कहा था। श्रीमती सुनीता पालीवाल ने भी मधुमक्खियों के व्यवहार पर पीएचडी की है। इस तरह से आप दोनों अति विशेषज्ञता के साथ इस कार्य को कर रहे हैं।

'सेंटर फार बी डेवलमेंट (सीबीडी)' एक गैर-लाभ प्राप्त करने (Non Profit Organisation) वाला संगठन है। इसकी विशेषज्ञता जंगल में प्राप्त होने वाले शहद (जो कि आदिवासियों के लिए वन-आधारित आजीविका का एक संसाधन है) में है। इस संस्थान के मूल में महात्मा गांधी की 'नई तालीम' का वह संदेश है, जो कि एक स्पंदित आत्मनिर्भर मानवीय समाज की परिकल्पना करता है। सीबीडी का विश्वास हरित तकनीक के माध्यम से प्राकृतिक संसाधनों का न्यायोचित उपयोग कर स्थानीय समुदायों को सुस्थिर रोजगार उपलब्ध करवाना है, जिससे कि स्थानीय लोगों का सामाजिक व आर्थिक सशक्तीकरण संभव हो पाए। इसी के साथ सीबीडी का प्रयास

है कि वह रॉक बी को नष्ट होने से बचाए। इसी के कारण यह संस्था अपने शहद को 'Non Voilent Honey' कहती है।

श्री गोपाल पालीवाल ने अपने कार्य की शुरूआत श्री मुकुंद उइके को साथ लेकर सन् 2000 में महाराष्ट्र के गढ़चिरोली से की थी। वे वहां जंगलों में सर्वेक्षण करते और वहीं आदिवासियों के घरों में ही रुकते थे। अहिंसात्मक ढंग से शहद निकालने की यह तकनीक उन्होंने स्वयं विकसित की। शुरूआती दौर में वे लोग 15-15 दिन लगातार जंगलों में रहकर मधुमक्खियों के व्यवहार व गतिविधियों का सूक्ष्म अध्ययन एवं विष्लेषण करते थे। श्री अमृत राव किसी रसायन का छिड़काव कर मधुमक्खियों को बेहोश कर देते थे और बाद में बाँस की सीढ़ियों से ऊपर जाकर शहद निकाल लेते थे, परंतु श्री पालीवाल ने इससे भी आगे व अलग अपनी स्वयं की तकनीक विकसित की और एक प्रोटेक्शन ड्रेस (रक्षा कवच) विकसित की। इसमें मधुमक्खियों को बेहोश भी नहीं करना पड़ता है और प्रकृति को कोई भी हानि नहीं पहुंचती है।

गौरतबल है रॉक बी जिसे हिंदी में भंवर मधुमक्खी, मराठी में आग्या मोहोल और आंध्रप्रदेश (तेलगु) में बाग ओंडार कहते हैं, दक्षिण और दक्षिणपूर्व एशिया में पाई जाती है। यह एक जंगली मधुमक्खी है जो सामान्यतया समतल स्थानों से वन क्षेत्रों और वन क्षेत्रों से समतल स्थानों पर निरंतर अपनी आवाजाही बनाए रखती है। यह ऊंची चट्टानों के समतल छोर, पेड़ों, पुलों, पुराने किलों, भवनों आदि में अपना निवास या छत्ता निर्मित करती है, परंतु उनके निवास निर्माण के लिए जरूरी है कि आसपास पानी की उपलब्धता हो। एक फलदार व उपजाऊ वन क्षेत्र, जहां बड़ी मात्रा में वनीय वनस्पति और उपजें मौजूद होती हैं, वही स्थान इन मधुमक्खियों का 'मुख्य स्त्रोत' होता है, जिससे कि वे 'उच्च गुणवत्ता वाला वनीय औषधीय शहद' तैयार कर पाती हैं। आदिवासी इसे इकट्ठा करने के लिए सामान्यतया जो तकनीक इस्तेमाल करते हैं, वह अवैज्ञानिक और विध्वंसक होती है और इसकी वजह से अनेक वन क्षेत्रों में मधुमक्खियों की संख्या में जबरदस्त गिरावट आ रही है। सुनीता पालीवाल का कहना है कि हमारा अनुमान है कि हमारे देश में 200-250 वन परिक्षेत्रों में मधुमक्खियों

के करीब 12 लाख से ज्यादा छत्ते मौजूद हैं और उनसे प्रतिवर्ष करीब 5000 टन वनीय शहद निकाला जाता है। भारत में अनुमानतः करीब 36 अरब वयस्क भंवर मधुमक्खियां हैं और उनके अनगिनत बच्चे भी मौजूद हैं। इन वनवासियों के शहद निकालने के अवैज्ञानिक तरीकों की वजह से बड़ी संख्या में न केवल मधुमक्खियां और उनके बच्चे मारे जाते हैं, बल्कि हजारों पेड़ भी नष्ट हो जाते हैं। श्रीमती पालीवाल के अनुसार संस्था द्वारा विकसित तकनीक न केवल मधुमक्खियों, वन व वनोपज का क्षरण रोकती है, बल्कि इससे प्रत्यक्ष तौर पर मधुमक्खी की उत्पादन क्षमता में भी वृद्धि होती है।

आपका कहना है कि इस पर कार्य करते हुए जो विचार पिछले करीब नौ दशकों से सतत् सक्रिय है और जिसे महात्मा गांधी द्वारा दिया गया था कि शहद निकालने की प्रक्रिया में मधुमक्खियों का नाश नहीं होना चाहिए, वहीं विचार हमारे मन में भी था कि इनका संरक्षण होना चाहिए। पारंपरिक तौर पर शहद निकालने के लिए लोग लंबे बांस में घास-फूस बांधकर उसमें आग लगाते हैं और फिर उसके बाद छत्ते को भी जला देते

हैं। इससे निकलने वाली लपटों और धुंए से बड़ी संख्या में मधुमक्खियां मारी जाती हैं तथा उनके बच्चे और अंडे भी नष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं, उन्हें नये सिरे से छत्ता बनाने की मशक्कत भी करना पड़ती है। कई बार यह भी होता है कि छत्ता बहुत ऊंचाई पर होने के कारण वहां तक पहुंच पाना कठिन होता है, ऐसे में ये लोग पेड़ की बड़ी डाल को ही काट देते हैं या उन्हें जला देते हैं। इसलिए हमने तय किया कि हमारा पहला काम मधुमक्खी को जलाए जाने व मारने से बचाना है।

हमें सबसे पहले ऑक्सफेम इंडिया से इसके लिए प्रोजेक्ट मिला और हमने गढ़चिरौली में अपना शोध कार्य शुरू किया। मधुमक्खी के पूरे छत्ते के सिर्फ ऊपरी हिस्से में ही शहद का भंडारण होता है, नीचे के हिस्से में उनके बच्चे और अंडे रहते हैं। इस बात पर विचार किया गया कि, केवल वही हिस्सा निकाल लिया जाए, जिसमें शहद होता है। यह जोखिम भरा काम है। मधुमक्खियों का सामूहिक आक्रमण जानलेवा भी साबित हो सकता है। ऐसे में हमने कोशिश की कि पेड़ पर चढ़कर छत्ते के एकदम करीब जाकर उससे शहद निकाला जाए। इस हेतु रस्सी व चाकू के अलावा ग्लोब्स (दस्ताने) विशेष ड्रेस और मास्क तैयार किए गए। शहरी और ग्रामीणों को ज्यादा शामिल न करके अधिकांशतः आदिवासियों को ही प्रशिक्षण में प्राथमिकता दी गई। चूंकि आदिवासी पेड़ों पर चढ़ने में माहिर होते हैं। अत: वे लोग छत्ते के ऊपरी हिस्से तक परिश्रमपूर्वक पहुंच जाते हैं और ऊपरी हिस्से को जितना जरूरी हो बस उतना ही काटकर नीचे उतर आते हैं। इससे छत्ते को कम से कम नुक्सान पहुंचता है और मधुमक्खियों की दैनिक गतिविधियों में भी बाधा नहीं पड़ती और न ही उनको नया छत्ता बनाने के लिए परिश्रम करना पड़ता है। कुछ ही दिनों में मधुमक्खियां काटे हिस्से का पुनः निर्माण कर लेती हैं। इसी के साथ उनकी जनसंख्या में भी कोई कमी नहीं आती। शहद निकाल लेने के बाद छत्ते के उस भाग से मोम भी निकाल लिया जाता है। ज्ञात हो मधुमक्खी के पेट में ऐसी एक ग्लैंड होती है, जिससे मोम निकलता है और उसी से छत्ता बनता है।

गर्मी और सर्दी दोनों ही मौसम में शहद तैयार होता है। शहद में प्रत्येक मौसम की फसल के औषधीय गुण होते हैं। सर्दी में तुअर, कपास और मक्का की फसलों के फूलों से मधुमक्खी शहद तैयार करती है। गर्मी के मौसम में पलाश (टेसू), जो कि होली (मार्च-अप्रेल) के आसपास खिलता है, से शहद बनाने की और तभी से शहद के मौसम की शुरूआत हो जाती है। इस क्रम में नीम, महुआ, कुकुरोजी, करंज, हरेड़ा-बहेड़ा, बबूल, आंजन, दूधपूड़ा (पूरा जंगल), मुनगा आदि से शहद तैयार होता है। मई में जामुन व प्याज का शहद तैयार हो जाता है। भारत में 15-15 दिन में फूलों का मौसम बदलता है, नए फूल आने लगते हैं। आजकल रासायनिक कीटनाशकों की वजह से भी मधुमक्खियां संकट में हैं। वहीं सुनीताजी का कहना है कि हम पूरी तरह से प्राकृतिक वातावरण में तैयार शहद ही इकट्ठा करवाते हैं। इससे शहद के औषधीय गुण बने रहते हैं। जैसे-नीम का शहद अस्थमा के लिए फायदेमंद है। पलाश के फूल से तैयार शहद पेट के रोगों के लिए मुफीद है। जामुन का शहद-उल्टी दस्त (डायरिया) में कारगर है। उनका कहना है कि माइक्रोस्कोप में ध्यान से देखने से यह ज्ञात हो जाता है कि शहद में किसके परागकण हैं। जैसे- बबूल व प्याज के परागकण कमोवेश गोल होते हैं। अलग-अलग फूलों के अनुरूप परागकण ओवल, स्टारफिश, गोल, रुबिक्स, ट्राइंगल जैसे आकारों के भी होते हैं। आपको माइक्रोस्कोप में इसी तरह की आकृतियां दिखेंगी।

मधुमक्खी में पोलन बास्केट होती है। परागकण उसके पिछले पैरों में चिपक जाते हैं। जंगलों में चलने वाली तेज हवा से भी वे निकलते नहीं हैं। यदि खेत में छत्ता हो, तो उसका फसल पर भी बेहद सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। मधुमक्खी के परागण (पॉलिनिएशन) का सर्वव्यापी प्रभाव होता है। संतरे और चीकू का न केवल आकार बड़ा हो जाता है, बल्कि उनकी गुणवत्ता और स्वाद दोनों में वृद्धि होती है। इसी तरह अगर खाद्यान्न और सब्जी के खेतों में मधुमक्खी का छत्ता होता है, तो वहां भी फसल का आकार, गुणवत्ता व पैदावार तीनों बढ़ते हैं। अतएव इनका होना भारत की खाद्य समस्या के निराकरण में भी सहायक हो सकता है। परंतु यह तभी संभव है, जबकि खेतों में रासायनिक खाद व रासायनिक कीटनाशकों का प्रयोग न होता हो।

संस्था ने प्रशिक्षण का कार्य महाराष्ट्र के अनेक जिलों के अलावा ओडिशा, आंध्रप्रदेश, मध्यप्रदेश, तमिलनाडु (कड़प्पा) व पश्चिम बंगाल (सुंदरबन) में किया है। यहां पर स्थानीय समुदायों को न केवल प्रशिक्षण दिया है, बल्कि उन्हें तकनीक भी उपलब्ध कराई है। इसी के साथ मध्यप्रदेश के बैहर (बालाघाट) व छत्तीसगढ़ के कोंडागांव में लगातार कार्य किया जा रहा है। वहां के स्थानीय गैर-सरकारी संगठनों (NGO) को सशक्त करते हैं। उन्हें इस बात के लिए तैयार किया जाता है कि वे अपने उत्पादों का विक्रय भी स्वयं ही करें। इस तरह से संस्था का लक्ष्य है कि इस कार्य को पूरे देश में फैलाया जाए। श्री गोपाल पालीवाल सबसे पहले स्वयं प्रशिक्षण देने जाते हैं। बाद में स्थानीय स्तर पर ही सहायक तैयार कर लिए जाते हैं।

वर्धा जिले के करीब 300 आदिवासी परिवार सीधे-सीधे संस्थान से जुड़े हैं। इस कार्य में सबसे बड़ी बात है 'विश्वसनीयता'। पूरा मामला आपसी विश्वास का है और यदि परस्पर विश्वास नहीं होगा, तो कार्य आगे बढ़ ही नहीं सकता। यहां पर इस कथन को विस्तार देते हुए वे कहती हैं कि वर्धा के जैन समुदाय के लोग हमारे शहद का सेवन कर रहे हैं और उनकी यह संतुष्टि कि यह अहिंसक ही है, की वजह से अब अन्य स्थानों के जैन लोग भी हमसे शहद खरीद रहे हैं। हम हमारे यहां लाए गए शहद की पूरी जांच वैज्ञानिक तरीके से करते हैं। हमारे पास एक अत्याधुनिक प्रयोगशाला है और हम एगमार्क के सारे मापदंडों का पालन करते हैं। इसीलिए मिलावट की किसी भी संभावना को पूरी तरह से दूर कर देते हैं। वैसे भी मिलावट को जांचने के बहुत आसान तरीके हैं।

संस्थान में वर्धा के आसपास के जिलों से भी शहद आता है। गांव के निवासी समीप के जंगल में अंदर जाते हैं और शहद लाते हैं। अब तो इनके समूह भी बन गए हैं। एक समूह अधिकतम 20 क्विंटल (2000 किलो) तक शहद संग्रहीत कर लेता है। कुछ समूहों को 2 से 3 लाख रुपए प्रतिवर्ष तक मिल जाते हैं। इन समूहों में 5 से 10 सदस्य होते हैं। वैसे अधिकांश 1 से 3 लाख रुपए तक कमा लेते हैं। वैसे सबसे ज्यादा शहद चन्द्रपुर से आता है, इसके बाद वर्धा और उसके बाद यवतमाल का नंबर आता है। ये लोग

शास्त्रीय विधि से शहद संग्रहण
एवं
प्रशिक्षण कार्यशाला
प्रायोजक - विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी परिषद रायपुर (छ.ग.)
प्रशिक्षक - सेंटर फॉर बी डेवलपमेंट वर्धा (महराष्ट्र)
कार्यशाला दिनांक - 20.12.2014 से 24.12.2014
स्थान - नारायणपुर
- सेंटर ऑफ डिस्कवरी फॉर विलेज डेवलपमेंट सोसायटी नारायणपुर

घूमते-घूमते मध्यप्रदेश में भी प्रवेश कर जाते हैं। वहां कोरकू और ओझा जनजाति शहद एकत्रीकरण का कार्य करती हैं। वहीं कभी-कभी ये लोग छत्तीसगढ़ में भी प्रवेश कर जाते हैं। गौरतलब है, यवतमाल का खड़संधी समूह प्रतिवर्ष कम से कम 2,50,000 रुपए का शहद इकट्ठा करता है। हमारे यहां करीब 50 लाख रुपए का शहद प्रतिवर्ष आता है और इसमें वर्धा जिले के आदिवासियों का हिस्सा करीब 30 लाख का होता है।

हमने सुनीताजी ने मधुमक्खियों के व्यवहार के बारे में भी कुछ चर्चा की। उनका कहना है कि छत्ते का जो हिस्सा हम शहद के लिए काटते हैं, उसे मधुमक्खी पुनः बना लेती है। गौरतलब है कि हम लोग एक-चौथाई (1/4) शहद उनके (मधुमक्खी) प्रयोग के लिए छोड़ देते हैं। मधुमक्खियों के समूह में एक रानी मक्खी होती है, लेकिन राजा बहुत सारे होते हैं। तमाम सारी मधुमक्खियां शहद इकट्ठा करती हैं। कुछ छत्ते में ही रहकर सफाई का कार्य करती हैं और कुछ बच्चों और लार्वा की देखरेख करती हैं। ये उड़ने के बाद छत्ते में पानी लेकर आती हैं। इससे वे छत्ते को सींचती हैं। इसी के साथ गार्ड (चौकीदार) मक्खी भी होती हैं। यानी सबकुछ मनुष्य जैसा ही होता है। गौरतलब यह है कि मधुमक्खी ने हमसे नहीं सीखा, बल्कि हमने उससे वंश व कुटुंब परंपरा सीखी है। रानी मक्खी के संपर्क (संसर्ग) में जो राजा आता है, उसे फिर भोजन देना बंद कर दिया जाता है और अंततः वह मर जाता है।

धीरे-धीरे छत्ते में नई रानी विकसित होने लगती हैं। नई रानी अपने कार्यकर्ताओं को लेकर नया घर या छत्ता बनाने निकल पड़ती है। शनैः शनैः परिवार का विभाजन होने लगता है। नया छत्ता भी पानी की उपलब्धता के करीब ही होता है। मधुमक्खियां आपस में वार्तालाप भी करती हैं। इनकी अपनी नृत्य भाषा (डॉस लैंग्वेज) होती है।

संस्था की एक अन्य महत्वपूर्ण गतिविधि यह है कि वे मधुमक्खी के बारे में छात्रों और आम जनता को लगातार जागरूक बनाती हैं। यहां मधुमक्खी के जीवनचक्र और उनके विकास को लेकर विस्तार से विवेचना की जाती है। कई विद्यालयों के छात्र यहां नियमित तौर पर आते हैं।

सीबीडी का मानना है कि रॉक बी, यानी भंवर मधुमक्खी का लकड़ी के बक्सों में पालना न तो व्यावहारिक है और न ही संभव है। अतः इनको बचाने के नये तरीके ईजाद करना और उन्हें लोकप्रिय बनाना आज की अनिवार्यता भी है। इस हेतु एक पर्यावरण अनुकूल वैकल्पिक उपज प्रणाली विकसित करना जरूरी है। केवल तभी मधुमक्खियों को विनाश से बचाया जा सकता है। इस दिशा में कार्य करते हुए सेवाग्राम निसर्ग टेक्नोलॉजी ऑफ रॉक बी मैनेजमेंट विकसित की गई, जो कि आज भारत के करीब 36 जिलों में प्रचलित है। इसके अंतर्गत प्रशिक्षित शहद एकत्रकर्ता को तमाम सुरक्षा

कवच के साथ ही साथ रस्सियां, रस्सियों की सीढ़ी, बाल्टियां, टॉर्च, चाकू, संग्रह करने के बर्तन आदि दिए जाते हैं, जिससे वे वैज्ञानिक ढंग से अपना कार्य कर सकें। संस्था ने एक 'कम लागत का शहद घर' भी विकसित किया है। यह प्रत्येक क्लस्टर में है और यहां बहुत साफ-सफाई के साथ शहद रखा व पैक करा जाता है। साथ ही हाट बाजार आदि में खरीदी की व्यवस्था भी की है। संस्था का प्रयास है कि भंवर मधुमक्खी के शहद को एक ग्रामीण व्यवसाय का स्वरूप प्रदान करा जाए। इस हेतु संस्थान अनेक सरकारी व गैर-सरकारी संस्थानों के साथ मिलकर कार्य कर रही है और इसकी वजह से प्रति वर्ष करीब 15 टन रॉक बी शहद (अहिंसक) इकट्ठा हो पा रहा है। इस उपक्रम को 'सेवाग्राम निसर्ग' का नाम दिया गया है। यहां से बिक्री होने वाले शहद को ग्रेड-ए (Grade-A) प्राप्त है। यहां यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि जंगल में स्वच्छंद विचरण कर शहद जमा करने वाली रॉक बी (मधुमक्खी) का शहद लकड़ी के बक्सों में पाली गई मधुमक्खियों से काफी बेहतर होता है।

मधुमक्खी से ही हमारी पृथ्वी पर जीवन की शुरूआत हुई है और उनके द्वारा किए जाने वाले परागण की वजह से ही सारी पृथ्वी इतनी पुष्पित व पल्लवित हुई है। अमेरिका जैसे देशों में मधुमक्खियों के कम होने के पर्यावरणीय विपरीत प्रभाव व वनस्पति पर विपरीत प्रभाव दिखाई देने शुरू हो गए हैं। भारत भी समय पर न संभला, तो यहां भी स्थिति तेजी से बिगड़ती जाएगी। सेंटर फॉर बी डेवलपमेंट जैसे संस्थान हमारी सभ्यता को बचाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं।

वनीय शहद एकत्रीकरण को व्यवसाय बनाने का अर्थ हैं स्थानीय पर्यावरण की बेहतर देखभाल। यह भी उल्लेखनीय है कि शहद बनाने वाली मक्खी का तीखा डंक अंततः दुनिया का सबसे टिकाऊ व स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ का उत्पादन करता है। भंवर मधुमक्खी अनेक वन क्षेत्रों से लुप्त होती जा रही है। भारत में इनकी जो किस्म पाई जाती है, वह प्रदूषण वाले क्षेत्रों और शोर वाले क्षेत्रों में नहीं बसती। अतएव इनके जीवित रहने के लिए आवश्यक है कि वन क्षेत्रों को पूरी तरह से सुरक्षित रखा जाए और भीतरी वन क्षेत्रों में मनुष्य और वाहनों की आवाजाही को न्यूनतम किया जाए व वनों को अतिक्रमण से बचाया जाए। आवश्यक है कि मार्च से जून तक की अवधि में क्षेत्र बेहद शांत रहें, क्योंकि इन्ही महीनों में सबसे ज्यादा फूल खिलते हैं। मधुमक्खी के छत्ते से वर्ष में 2 से 3 बार शहद निकाला जा सकता है।

निष्कर्ष

मधुमक्खियों ने नृत्य की भाषा आविष्कृत की है और वे हमेशा सुंदरतम के संपर्क में ही रहती हैं। उनका घर अपने आप में रहस्यमय कुतूहल पैदा करता है। उनका सामुदायिक जीवन पूरी मानवजाति के लिए सीखने का सबब है। गौर करिए कि मधुमक्खियों के 4 करोड़ वर्ष पुराने फासिल्स मिले हैं। एकलव्य, भोपाल द्वारा प्रकाशित एक छोटी सी पुस्तिका 'जब पुरुषों ने किया शिकार, तब महिलाओं ने क्या किया' में लेखक सी.एन. सुब्रमण्यम बताते हैं, 'पचमढ़ी में महादेव पहाड़ी की गुफा पर बने चित्र को जब मैंने देखा, तो मुझे समझ में नहीं आया कि इस चित्र में क्या हो रहा है? थोड़ी देर बाद वहां घूमती हुई लड़की से मैंने पूछा। लड़की ने गौर से चित्र देखा और बोली, 'जे बाइयां मधुमक्खी के छत्ते तोड़ रहीं हैं।' मुझे आश्चर्य हुआ कि इस लड़की ने इतने आराम से बता दिया। उस लड़की ने बताया वह और उसका भाई भी इसी तरह छत्ते तोड़कर शहद इकट्ठा करते हैं।' प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन ने कहा था कि 'मधुमक्खियों के विलुप्त होने के चार वर्ष के भीतर मानव सभ्यता भी नष्ट हो जाएगी।' सीईडी जाकर यह महसूस हुआ कि अभी भी सभ्यता के बचे रहने का संभावनाएं बाकी हैं, क्योंकि वर्धा और उसके आसपास बहुत से लोग हमारे इस सबसे उम्रदराज पूर्वज की परंपरा की निरंतरता को बनाए रखने हेतु प्राणपण से कोशिश कर रहे हैं।

प्रभात विकास मंच

मानव गरिमा को दी नई पहचान

यह कहानी एक ऐसी संस्था और व्यक्ति की कहानी है, जिसने भारतीय सामाजिक ताने-बाने में विद्यमान असमानता को चुनौती दी और एक ऐसे समुदाय को प्रतिष्ठित किया, जिससे कि सामान्यतया समाज के कथित सभ्य लोग संपर्क ही नहीं रखना चाहते हैं। यह अपने आप में बेहद अनूठी कहानी इसलिए भी है कि जिस व्यक्ति ने इसे संभव बनाया, उसने पहले स्वयं को भी मुख्यधारा में स्थापित किया है।

समाजवादी विचारक किशन पटनायक का यह कहना था कि हमें किसान को मजदूर की तरह भी देखना चाहिए। उद्योग में, सरकारी दफ्तरों में न्यूनतम मजदूरी, बीमा, वेतन, महंगाई भत्ता आदि निश्चित है, परंतु किसानों को ऐसी कोई सुविधा नहीं है। भूमिहीन किसान और कृषि मजदूरों की स्थिति तो और भी ज्यादा खराब है। संभवतः इसी वजह से भारत में प्रतिदिन 2,400 किसान, यानी वर्षभर में 8,76,000 किसान खेती छोड़ देते हैं। कृषि पर निर्भर भूमिहीन मजदूरों की संख्या करीब 14.4 करोड़, यानी 55 प्रतिशत और काश्तकार 11.8 करोड़ है, अर्थात 45 प्रतिशत। देशभर में भूमिहीन किसानों की संख्या करीब 72 लाख है। महाराष्ट्र में भी बड़ी संख्या में किसान किराए पर भूमि लेकर खेती करते हैं। इन्हें सांस्थानिक ऋण आदि सुविधाओं का लाभ भी नहीं मिल पाता।

इसी पृष्ठभूमि में हमारी भेंट प्रभात विकास मंच, धुले, महाराष्ट्र के अध्यक्ष श्री विनोद पगार से हुई। उनकी बहुआयामी संस्था प्रभात विकास मंच सन् 1998 से सक्रिय है। यह धुले और पड़ौसी मालेगांव में कार्यरत हैं। अन्ना साहब देवरे इसके उपाध्यक्ष हैं तथा ज्योत्सना पाटिल सचिव हैं। संस्था की आकर्षक गतिविधि है, नाबार्ड एक की योजना, संयुक्त देयता समूह (Joint Liability Group) का क्रियान्वयन। इसमें समूहों की स्थापना कर उन्हें बैंकों से ऋण दिलाया जाता है। ऋण वापसी की जिम्मेदारी भी संस्था की ही होती है। एक समूह (4-5 सदस्य) बनाने के बदले संस्था को मात्र 2000 रु. मिलते हैं, जबकि सारा जोखिम संस्था को ही उठाना पड़ता है। यह राशि भी तभी जारी होती है, जब समूह ऋण का पूरा भुगतान कर देता है। अतः अधिकांश एनजीओ इसमें रुचि नहीं लेते, परंतु इस संस्थान ने अब तक ऐसे 150 से ज्यादा समूहों का गठन करने में, सफलता प्राप्त की है। ऐसा करने वाला यह महाराष्ट्र का संभवतः एकमात्र समूह है। वैसे तो महाराष्ट्र में किराये पर जमीन लेकर खेती करने वालों का कोई आधिकारिक आंकड़ा नहीं है, परंतु राज्य में इनकी संख्या 20 से 25 लाख तक हो सकती है। किराये पर जमीन देने के अनेक कारण हैं, जैसे छोटी जोत के कारण पलायन, बाहर नौकरी आदि। गौरतलब है किरायेदार किसान औपचारिक ऋण व्यवस्था से बाहर हैं, परंतु प्रभात विकास मंच ने इन्हें सांस्थानिक ऋण उपलब्ध करवाया है।

इतने जोखिम के बावजूद विनोद पगार और साथियों ने व्यक्तिगत आर्थिक जोखिम उठाकर इस काम को आगे बढ़ाया। नोटबंदी के दौरान समस्या अधिक हो गई थी। अंततः 100 प्रतिशत ऋण वापसी का करार करवा लेने के बाद ही बैंक ने पुनः ऋण देना प्रारंभ किया। इस योजना के अंतर्गत 4-5 सदस्यों के समूह को 25000 रु. तक ऋण मिलता है। संस्था ने खेती के 14 समूहों को साथ लेकर इस योजना पर कार्य करना शुरू किया। इसके पश्चात कुम्हार, शिल्पकार, सुतार, लोहार के कुल 6 समूह बनाए। फेरीवाले, यानी वैदू समाज का समूह बनाया। इनके पास तो तब आधार कार्ड भी नहीं था। ये लोग सामान्यतया एक स्थान पर टिकते भी नहीं हैं। महिलाओं की इस कार्य में बहुलता है। ये कंघी, सौंदर्य प्रसाधन आदि बेचती हैं, जिनकी अधिकतम कीमत 15 रु. तक होती है। इसके बाद भराड़ी, यानी भैंस बेचने और उनके बाल काटने वालों के 12 समूह तैयार किए। इन्हें शराबी और चोर भी माना जाता रहा है। सामान्यतया अन्य लोग इनसे दूरी बनाए रखते हैं, पर संस्था ने इन पर विश्वास किया और ये भी विश्वास पर खरे उतरे। इसके बाद साप्ताहिक हाट में जाने वालों का समूह बनाया। उपरोक्त सभी के लिए एकमुश्त 25000 रु. मिलना किसी सपने के सच हो जाने जैसा ही है। अब ये सभी लोग पूंजी की व्यवस्था हो जाने से अपने घर-परिवार पर भी ज्यादा ध्यान दे पाते हैं। संस्था ने ग्रामीण क्षेत्रों में ब्यूटीपार्लर के लिए भी ऋण की व्यवस्था की। महिलाएं अपने घरों में यह कार्य करती हैं और 400 रु. प्रतिदिन तक की आमदनी कर लेती हैं।

संस्था का लक्ष्य है कि सन् 2022 के अंत तक कम से कम 100 नए समूह तैयार कर लेना। अब तक 45 बन भी चुके हैं। संस्था मालेगांव में सन् 2018 से यह कार्य कर रही थी। वहां मंदिर के बाहर फूल-प्रसाद बेचने वालों के लिए ऋण व्यवस्था की। उपरोक्त सभी की ऋण वसूली (रिकवरी) 100 प्रतिशत रही है। धूलिया के 100 समूहों में से मात्र 6 समूह पुरुषों के हैं व बाकी 94 महिलाओं के हैं। मालेगांव के 100 समूहों में से 3 पुरुषों के और 97 महिलाओं के हैं। मालेगांव में 'महिला स्वयं सहायता बचत घर' स्थापित किया। इसके 15 सदस्य हैं, जो सिर्फ आपस में आर्थिक लेन-देन करते हैं। मासिक 2 प्रतिशत ब्याज होता है और साल के अंत में सारा लाभ आपस में बांट लेते हैं।

हमने जमीन किराए पर लेकर खेती करने वाले 'ओम साईं संयुक्त देयता समूह, नेयाहडोद, धुले, महाराष्ट्र' की सदस्यों श्रीमती भारती किशोर माली, श्रीमती कविता साड़ता माली, श्रीमती इंदिरा मनोहर माली और श्रीमती परमेश्वर जाधव से उनके खेतों में जाकर बातचीत की। महात्मा गांधी, 'ग्राम स्वराज्य' पुस्तक में पूछते हैं 'क्या किसान अपने खेतों को एकसाथ मिला लें और अपने खेतों के क्षेत्रफल के हिसाब से फसल आपस में बांट लें?' इस समूह की सदस्यों ने जमीन किराए पर ली है और लाभ हानि की जिम्मेदारी उनकी अपनी भी है। असाधारण प्राकृतिक आपदा की स्थिति में मुआवजा उनके नाम से नहीं आता है। गांधीजी मानते थे कि सहकार की उनकी कल्पना में खेती के सभी कार्य बोना, काटना आदि सब मिल-जुलकर करें। बीज आदि पर मिला-जुला अधिकार रहे। उनका मानना था कि ऐसी खेती जमीन व समाज की शक्ल बदल देगी। लोग एक-दूसरे के मित्र बन जाएंगे।

समूह सदस्य भारती किशोर माली इस समूह का नेतृत्व करती हैं। इन सबके पति खेत में कम ही मदद करते हैं, लेकिन अलस्सबाह मंडी में सब्जी बेचने वे ही जाते हैं। इनके पास 4 एकड़ जमीन है और ये इसका 10 हजार रु. एकड़, यानी 40000 रु. प्रतिवर्ष किराया देती हैं। सब्जी ही लगाती हैं, जिनमें लौकी, बैंगन, गिलकी, धनिया, मेथी प्रमुख हैं। गेहूं व ज्वार भी लगाती हैं। वर्ष में 1.5 लाख रु. से लेकर 3 लाख रु. तक का लाभ हो जाता है। परिणामस्वरूप अब इन्हें शहर में जाकर मजदूरी भी नहीं करनी पड़ती। इस कार्य में जोखिम था, परंतु उन्होंने इसे उठाया। सर्वप्रथम एक एकड़ में बैंगन लगाकर शुरूआत की। शुरूआत में 25000 रु. मिले थे। इसे लौटा देने के बाद अब

50000 रु. ऋण मिला। ये हर हफ्ते बैंक में ऋण वापसी के रुपए भरती हैं। बच्चे अब नियमित विद्यालय जा रहे हैं, परंतु जमीन खाली करने का जोखिम तो बना ही रहता है। समूह की बाकी सदस्यों का मंतव्य भी कमोवेश इसी तरह का है। सबका मानना है कि इस पहल के बाद घर की स्थिति ठीक हुई है और वे बच्चों पर अधिक ध्यान दे पाती है। स्वयं का आत्मविश्वास भी बढ़ा है। सन् 1887 में एडिनबर्ग विश्वविद्यालय के कृषि व ग्रामीण अर्थशास्त्री राबर्ट वैलेस ने कहा था, 'भारत का किसान छोटी से छोटी बात का ध्यान रखता है। वह अपने खेत का हर पत्ता, हर वृक्ष जानता है। वह यह भी समझता है कि उसका महत्व है भी या नहीं।' इस समूह पर यह कथन पूरी तरह से खरा उतरता है।

ये सभी जैविक खेती करती हैं। बहुत कम रासायनिक कीटनाशक प्रयोग में लाती हैं। अतएव इनकी सब्जियों के दाम भी बाकी से ज्यादा मिलते हैं। वैसे सामान्यतया बैल किराए पर लेकर खेती करती हैं। लगातार फसल लेने की वजह से ट्रैक्टर चलाना कठिन हो जाता है। इन सबका कहना है कि आसपास के खेत वाले भी हमसे उनकी जमीन किराए पर लेने को कहते हैं, परंतु हम नहीं लेते। इनका मानना है कि खेती में तभी फायदा होता है, जबकि यह कार्य स्वयं किया जाए। ये लोग धूलिया मंडी में सब्जी भेज देती हैं। चारों परिवारों के पुरुष सुबह मंडी जाकर फसल बेचते हैं। यदि सब नहीं जा पाते, तो एक-दो लोग जाते हैं और बाद में हिसाब कर लेते हैं। ये लोग अपनी खेती की प्रक्रिया को 'अड़जी पड़जी नववावर (वावर खेती)' कहती हैं। यानी जब एक के खेत में काम होता है, तो सभी उसी के खेत में काम करती हैं। ऐसा बारी-बारी से सभी के साथ होता है। सुबह 7 से 9 तक उसी खेत में जाती हैं, जिसमें बैंगन लगा हो। तेज धूप हो जाने से इसमें दाग लग जाता है। एकसाथ मंडी भेजने से भाड़ा भी कम लगता है। किसी सरकारी योजना का इतना सकारात्मक प्रभाव कम ही देखने को मिलता है। मासोनेबु फुकुओका एक तिनके से क्रांति में किसान को निर्माता क्यों कहते हैं, यह यहां आकर समझ में आता है।

धूलिया जिले में निवास करने वाला एक विशिष्ट समाज है 'भराड़ी'। इनका पुश्तैनी कार्य भीख मांगना रहा है। इनमें पुरुष ही भीख मांगते हैं। ये संत नवनाथ के नाम पर भिक्षावृत्ति करते हैं। वे छद्म वेश धारण कर हाथ में लोहे का पंजा और रुद्राक्ष रखते हैं और गावों में ही भीख मांगते हैं। इस समुदाय की आठ महिलाओं को चिह्नित कर इनके दो समूह बनाए गए। इनमें से एक है पूर्णपाड़ा गांव का 'संतोषी माता संयुक्त जवाबदारी समूह'। इस समूह की कल्पना शिंदे ने बताया कि वे एक टोकरी में कटलरी (मेकअप आदि) का सामान लेकर गांवों में जाती हैं। विशेषतः साप्ताहिक हाटों में। एक महीने में चार हाट अवश्य करती हैं। हाट में आने वाली महिलाएं इनसे सामान खरीदती हैं। इनके द्वारा कार्य शुरू करने के बाद पति ने भी भीख मांगना छोड़ा और सेंटरिंग (भवन निर्माण) का काम करने लगे। इस समूह में प्रत्येक को 8-8 हजार रु. मिला था। इनका कहना है कि अब खर्च निकालकर प्रतिमाह 10 हजार रु. तक कमा लेती हैं। इन्होंने 2 साल में सारा कर्ज उतार दिया है। ये लोग स्थायी दुकान नहीं

लगाना चाहती, क्योंकि इसमें बंधे खर्चे बहुत होते हैं। अभी घूम-घूम कर सामान बेचतीं हैं और इन्हें केवल टोकरी पर ही खर्च करना पड़ता है। जनगणना - 2011 के आकड़ों के हिसाब से भारत में कुल 4,13,670 भिखारी हैं। इसमें से 2,21,673 महिलाएं और 1,97,997 पुरुष हैं। महाराष्ट्र में 70000 से ज्यादा भिखारी हैं। कुछ वर्ष पूर्व महाराष्ट्र सरकार ने भिखारियों को प्रशिक्षण देकर इन्हें इससे निकालने का कार्यक्रम बनाया था और पूना को महाराष्ट्र का पहला भिखारी- मुक्त शहर बनाने का संकल्प लिया था, परंतु अकेले मुंबई में भिखारियों की संख्या में 40 प्रतिशत की वृद्धि हुई है, जबकि इस संस्था ने इन्हें इस काम से निकालने का अलग ही सफल रास्ता चुना है।

एक और महिला समूह 'वारकारी' समुदाय का तैयार हुआ है। ये लोग चने-भूनने (भड़भूंजे) का कार्य करते हैं। ये भोई जाति के हैं और संत बीमा भोई को गुरु मानते हैं। ये लोग अपनी भट्टी लगातार सेव बनाने और चने आदि भूनने का कार्य करते हैं। ये पहले 10 प्रतिशत प्रतिमाह की ब्याज दर पर ऋण लेते थे। इससे इन्हें घर का सामान बेचने की नौबत आ जाती थी। इस समूह की ललिता मोरे और कल्पना वैरा वाडिले से हमारी बात हुई। पहले ये लोग गांव-गांव घूमकर व साप्ताहिक हाट में बिक्री करते थे। अब केवल साप्ताहिक हाट में दुकान लगाते हैं। इन्हें पहले 10 हजार रु. का ऋण मिला, जो इन्होंने लौटा दिया। अब 40 हजार रु. तक का ऋण मिलने की उम्मीद है। इस योजना में ऋण मिलने से इनके जीवन में बेहद सकारात्मक बदलाव आया है। इसी समूह की कुछ अन्य महिलाएं-शोभा बाई लक्ष्मण मोरे, आशाबाई तुकाराम एवं कमलबाई किशोर भोई अपने पारंपरिक व्यवसाय से कुछ अलग कार्य करने लगी हैं। उनका कहना है कि अब भड़भूंजे उत्पादों की मांग कम हो गई है, इसलिए अब ये नूरखेड़ी, नांदरा आदि गांवों में साप्ताहिक हाटों में मौसमी फल बेचने लगी हैं। इन्हें सामान्यतया 10 से 15 हजार रु. महीने की आय हो जाती है। कई बार 20 हजार रु. महीना तक मिल जाता है । ये भी पहले साहूकार से 5 से 10 प्रतिशत प्रतिमाह ब्याज दर पर रुपए लेती थीं।

समिति के अध्यक्ष विनोद पगार की जीवनगाथा भी बहुत रोचक है। उनकी पढ़ाई में रुचि नहीं थी। 10वीं में 4 बार और 12वीं में 8 बार अनुत्तीर्ण हुए। उत्तीर्ण होने पर बी.ए. में प्रवेश लिया। अंग्रेजी से चिढ़कर पढ़ाई छोड़ दी, लेकिन ज्योति जिससे विवाह हुआ, वह अंग्रेजी में एम.ए. हैं। पिता कपड़ा मिल में मजदूर थे। सबको साथ में रख पाना कठिन था। विनोद कई बार फुटपाथ पर सोए। फिर प्याज का ठेला लगाया। 1500रु. महीना तक कमा लेते थे। वंचित समाज को नजदीक से देखा। उनसे जुड़ाव भी अधिक हुआ। इस बीच गांधीवादी डॉ. सुगन बरंठ, आत्माराम पाटिल और शिवाजी भावे, जो विनोबा के बड़े भाई हैं, से मुलाकात हुई। सामाजिक कार्य की शुरूआत बच्चों के खेलघर से की। इसमें सभी धर्मों के बच्चे शामिल थे। साने गुरुजी से भी प्रभावित हुए। यहां सर्वधर्म प्रार्थना होती थी। सभी धर्मों के त्योहार एक साथ मनाए जाते थे। सभी धर्मो- हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई व दलितों को खेत दिखाने भी ले जाते थे। इसी के साथ धुले और मालेगांव में हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए कार्य किया। 30-30 युवाओं का शिविर किया। इसमें हिंदू युवा किसी मुसलमान के घर व मुसलमान युवा हिंदू के घर ठहरते थे। टिफिन बनाकर लाते थे और साथ में खाते थे। राम पुनियानी आदि भी व्याख्यान देते आते थे, शिविर में। व्याख्यानों में 350 तक युवा जमा हो जाते थे। इसी के साथ गांधी शांति परीक्षा का आयोजन भी किया। इसमें प्रतिवर्ष 3000 लोग भाग लेते थे। पंचायती राज के प्रसार व स्व-सहायता समूह बनाने के लिए महिलाओं को प्रशिक्षित किया। इसके अंतर्गत धूलिया में 225 और मालेगांव में 250 समूह अभी तक गठित हो चुके हैं। सन् 2002 से 2007 तक धुले के गावों में परंपरागत बीजों का संग्रहण, संवर्धन और प्रयोग को विस्तार से समझा। जैविक खेती के विचार व कार्यक्रम से जुड़कर समीपवर्ती जलगांव व नंदूरबार में कार्य किया। 750 किसानों को चिह्नित कर 14 समूहों का गठन कर उनसे डाटा एकत्र किया। इस प्रक्रिया में सभी 750 किसानों के खेतों का सर्वेक्षण किया था। आदिवासी बहुल घरगांव व आमली में 'गावरान बियानी', यानी आदिवासी समुदाय के परंपरागत बीजों के संवर्धन का कार्य किया। धन की कमी के चलते मार्केटिंग का काम कभी नहीं किया।

विनोद का कहना है कोरोना काल के बाद से स्थितियां सामान्य नहीं हो पाई हैं। फंड की कमी से हाथ बंध गए हैं। गुदड़ी बनाने का जो निजी कार्य करते थे, वह भी बंद हो गया। संस्थागत धन भी नहीं आ रहा है। महिलाओं के कुछ नए समूह जरूर बने हैं। उन्होंने बताया कि माइक्रोफाइनेंस कंपनियों की वजह से महिलाओं को अपना घर और गांव छोड़ना पड़ रहा है। घर बचाने के लिए पति-पत्नी तलाक ले रहे हैं। लोगों के घर बिक रहे हैं। उसके अनुसार माइक्रोफाइनेंस को लेकर जो प्रचारित है, स्थिति उससे ठीक विपरीत है, परंतु प्रभात विकास मंच और विनोद अपने उद्देश्य से हटे नहीं हैं। अभी भी वे अपना कार्य कर रहे हैं, जबकि उन्हें वाजिब धन भी नहीं मिल पा रहा है। उनका काम हमारी संवेदनशीलता को बढ़ाता है।

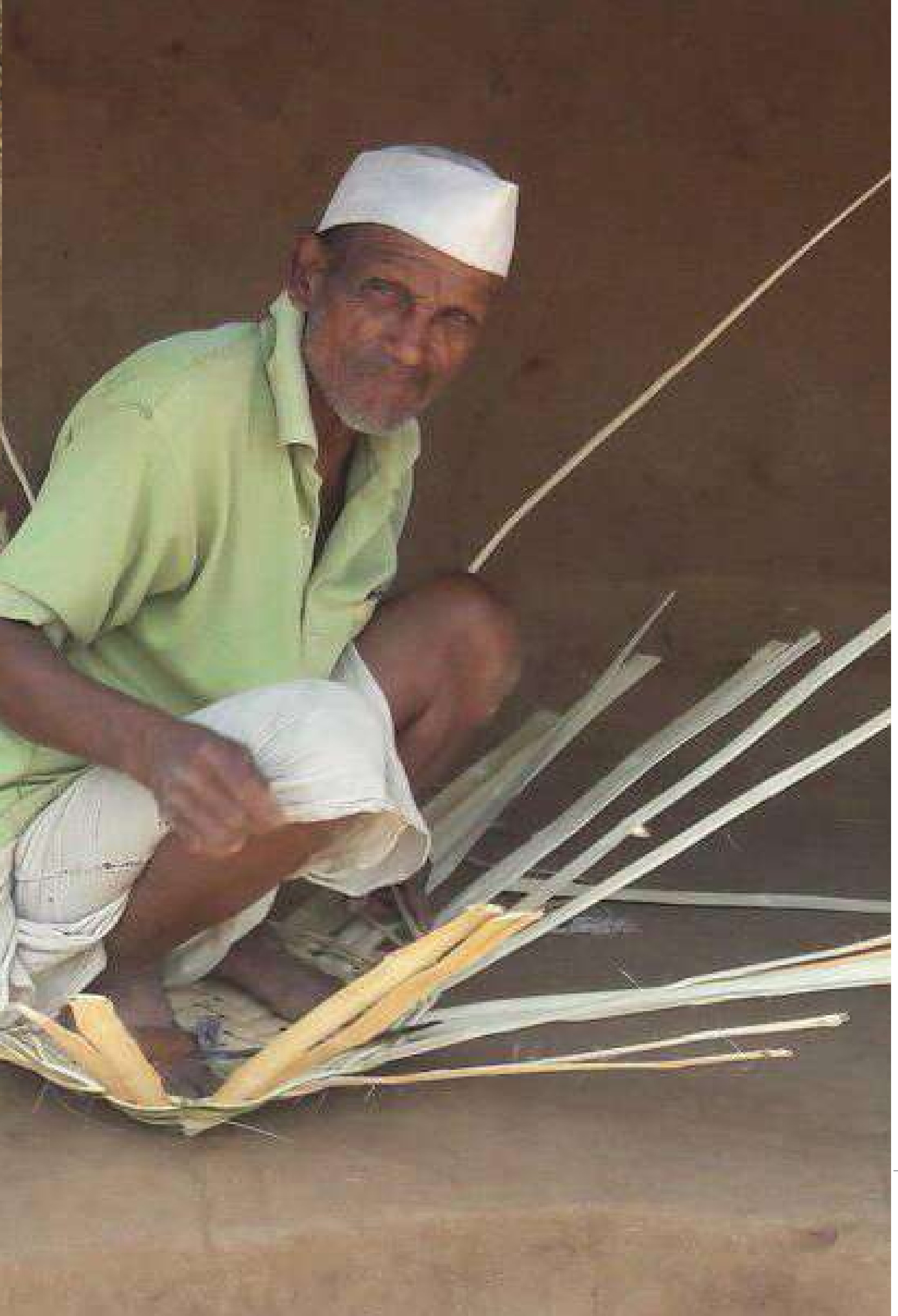

निष्कर्ष

यह संस्था महात्मा गांधी व बाबा साहब अंबेडकर के विचारों पर खरी उतर रही है। मुख्य बात यह है कि हमें मनुष्य को उसकी परिपूर्णता में स्वीकार करना होगा। मंच उन लोगों के साथ आर्थिक व्यवहार कर रहा है, जिससे कि बाकी का समाज सामान्य संबंध भी नहीं रखना चाहता। विनोद तमाम विपरीत परिस्थितियों से टकराते हुए भी सरल और सहज बने रहते हैं। उन्हें देखकर गांधी का यह कथन याद आता है, 'हर आदमी के गुणों को ढूंढ़ना और उन पर विचार करना और जब दोष दिखाई दे, तो यही सोचना कि जगत में कोई भी चीज दोष रहित नहीं है।' आज की आवश्यकता है इस ब्रह्म वाक्य को समझना। एक ऐसे समय में जब परिवारों के आपसी संबंध तक अविश्वासपूर्ण होते जा रहे हैं, ऐसे समय में यह संस्था उन लोगों को अपने साथ ले रही है, जो समाज में कमोवेश त्याज्य जैसे हैं। संस्था एक ऐसा उपक्रम कर रही है, जो कि सामान्यतया अकल्पनीय-सा लगता है। तिरस्कृत समाज का व्यक्ति भी कैसे एक बेहतरीन नागरिक ही होता है, यह प्रभात विकास मंच ने हमें सिद्ध करके दिखाया है। जाहिर है विनोद पगार और उनका संगठन तो सभी में गुण ही ढूंढ़ता है और वास्तव में ढूंढ़ भी लेता है।

धरामित्र

कृषि परंपरा की पुनर्स्थापना

एकल कृषि या मोनोकल्चर मिट्टी और मनुष्य दोनों के लिए घातक है। एक ही फसल पर निर्भरता, जलवायु परिवर्तन के समय अधिक जोखिमभरा काम हो गया है। इस संस्था के साथ संवाद में यह समझ में आता है कि अकेले कृषि पर निर्भर रहकर ग्रामीण अर्थव्यवस्था को सशक्त नहीं बनाया जा सकता। जब मिट्टी का स्वभाव नहीं बदलता तो फसलों की बुआई में आमूलचूल परिवर्तन कैसे संभव है? संस्था द्वारा किए गए प्रयोग अब व्यावहारिक धरातल पर भी उतरने लगे हैं। विदर्भ, जो कि किसान आत्महत्याओं के लिए कुख्यात है, में ऐसी पहल निश्चित ही स्वागत योग्य है।

आहार फल - मूलं तु प्रजानां अभवत किल।
कृच्छ्रेणैव तदा तासां इत्येव अनुषुश्रुम।।

\- वायुपुराण

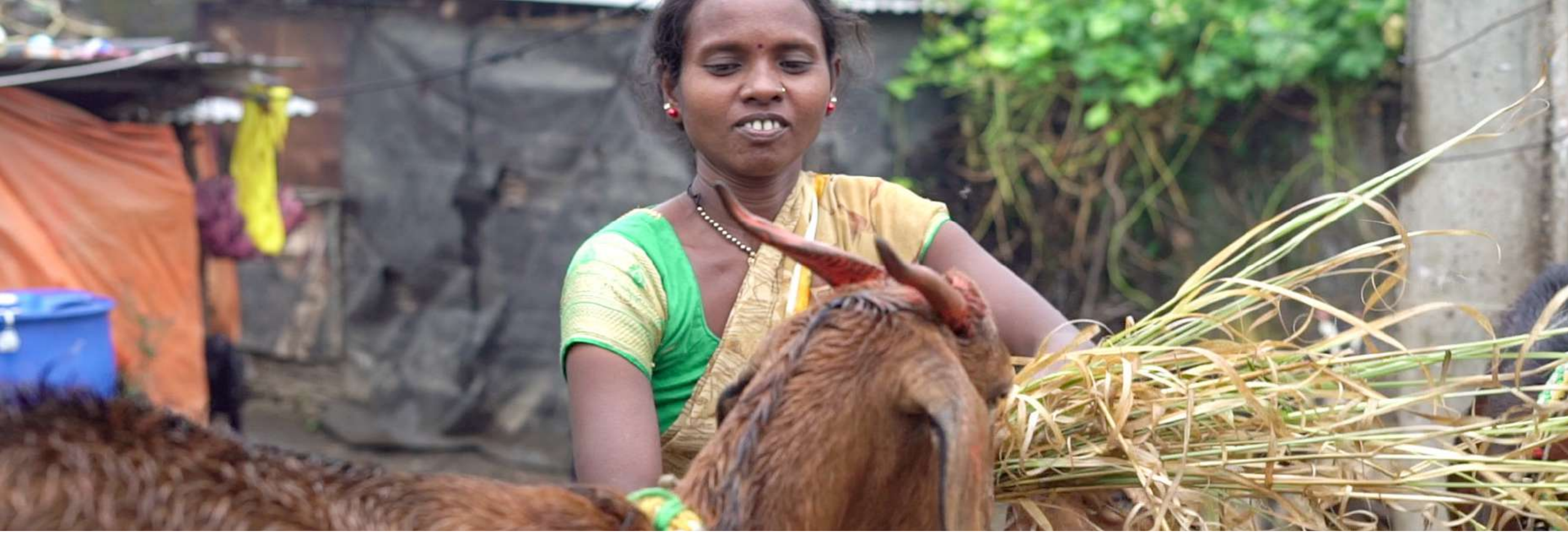

आदिम साक्ष्य इस बात का संकेत देते हैं कि जो लोग खेती नहीं करते वे भी लगभग वह सारा काम करते हैं, जो किसान करते, परंतु वे उतनी मेहनत से काम नहीं करते जितनी मेहनत से किसान करते हैं। कृषि मानव सृष्टि या सभ्यता का सर्वाधिक श्रमसाध्य कार्य है। इसके बावजूद मनुष्य इसे करता है। कृषि के प्रमाण 40-45 हजार वर्ष पहले से मिलते हैं। ऋग्वेद में इसका जिक्र आता है। साथ ही यह भी सच है कि नृतत्वशास्त्री और पुरातत्वविद दोनों ही इस बात पर एकमत हैं कि कृषि का आविष्कार महिलाओं ने किया है। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (सन् 2000) के अनुसार 'उपनिषद काल से मुगलकाल तक भारत में खेती के क्षेत्र में न तो नए औजार विकसित किए गए न नई विधि अपनाई गई, परंतु सावधानी से देखें, तो परिवर्तन दिखाई देते हैं। याद रखना होगा कि भारत में कृषि को कभी भी व्यावसायिक गतिविधि नहीं माना गया।'

कृषि का विकास क्रमानुसार हुआ है। पहले हल में गाय को जोता जाता था, बैलों का उपयोग बाद में हुआ। कुछ का मानना है सांड को बैल बनाने या उसके बंध्याकरण की प्रक्रिया संभवतः दुनिया का पहला सफल वैज्ञानिक प्रयोग है। यंत्र ऋग्वेद काल से पहले की बात है। इसके बाद 'खाद' की बारी है, अथर्ववेद में इसे 'करीष' कहा गया। तदुपरांत बीज संरक्षण। शायद मिट्टी के बर्तन बना लेने के बाद इसमें विस्तार आया। हमें यह याद रखना होगा कि थोड़ा घुन लगा अन्न खाया जा सकता है, लेकिन थोड़ा सा खराब दाना (अन्न) बीज नहीं बन सकता। इसके उसका अक्षत होना जरूरी है।

गौरतलब है कृषि में भी समय-समय पर परिवर्तन आए हैं। 'धरामित्र' ऐसी ही एक संस्था है, जो कृषि क्षेत्र में नई तकनीकों के विकास और समसामयिक पारंपरिक तकनीकों की पुनर्स्थापना के लिए कटिबद्ध है। 'धरामित्रः यानी धरती का मित्र।' यह सुस्थिर विकास हेतु वर्धा में स्थापित एक पर्यावरणीय अनुकूल तकनीकी शोध एवं रिसोर्स केंद्र है। इसके अंतर्गत वैज्ञानिकों, तकनीशियनों और सामाजिक कार्यकर्ताओं का समूह यथोचित विज्ञान और वैकल्पिक तकनीक के माध्यम से सुस्थिर ग्रामीण विकास को समर्पित है। यह संस्था संसाधनों के न्यायपूर्ण उपयोग में विश्वास रखती है। सुस्थिर ग्रामीण विकास इसका मुख्य ध्येय है। धरामित्र संस्था ग्रामीणों के सामने आ रही समस्याओं को लेकर वैज्ञानिक हस्तक्षेप करती है और पर्यावरण अनुकूल तकनीक

तैयार करती है तथा इनका व्यापक प्रसार करती है। संस्था अन्य गैर-सरकारी संगठनों के साथ मिलकर भी काम करती है और नेटवर्क तैयार करती है। यह महाराष्ट्र के वर्धा, अकोला, वाशिम और अमरावती जिलों के अलावा समीपवर्ती मध्यप्रदेश व छत्तीसगढ़ के सीमांत जिलों में भी कार्यरत है। महात्मा गांधी का मानना था कि खेती ही एकमात्र अटूट व अचल सहारा है। वे मानते थे कि खेती सुधरेगी, तो ही भारत भी विकसित होगा। वे खादी से ज्यादा महत्व कृषि को देते थे। उनके अर्थशास्त्र को समझाने वाले जे.पी. कुमारप्पा ने अपनी पुस्तक 'ग्राम आंदोलन क्यों' में ग्रामीण भारत के महत्व को समझाया है। विदर्भ में बड़े पैमाने पर किसान आत्महत्याएं हुई हैं। इसके प्रमुख कारणों में कपास पर अत्यधिक निर्भरता भी है। इसीलिए धरामित्र मूलतः खेती में विविधता की समर्थक है।

धरामित्र के संस्थापक डॉ. तारक काटे से चर्चा करना एक अनूठा अनुभव है। उनसे मिलना सैद्धांतिकता और व्यावहारिकता से एकसाथ मिलना भी है। वे एक विषय पर स्वयं को सीमित नहीं रखते। वे बताते हैं कि विदर्भ में महिलाएं मूलतः 'पाटा' पद्धति की खेती करती थीं। इसके अंतर्गत मक्का, ज्वार, बाजरा, मोतीचूर, भादलीन, राड़ा (रागी) जैसे अन्न उपजाए जाते थे। मूंगफली, तिल और ताला जैसे तिलहन बोए जाते थे। चौराई, बरबटी, अंबाड़ी, ग्वार जैसी सब्जियां व फल लगाए जाते थे। इस विधि से तकरीबन 21 तरह के फल, सब्जियां लगाए जाते थे। कुछ जंगली फसलें अपने आप हो जाती थीं। गोपुरी में अभी 16 फसलें लगाई जा रही हैं। इससे जमीन को भी बेहद पोषण मिलता है। इस विधि की पुनर्स्थापना जरूरी है। आदिवासी क्षेत्रों में इसकी अधिक संभावनाएं हैं। महाराष्ट्र के खानदेश व मध्यप्रदेश के बुरहानपुर के 9000 वर्ग कि.मी. क्षेत्र में यह खेती ज्यादा प्रचलित थी। जलवायु परिवर्तन से भी इस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। उनका मानना है कि पूरी तरह से खेती पर ही निर्भर होने से बात नहीं बनेगी। इसीलिए वे लगातार लिखते रहते हैं, तमाम विषयों पर। साथ ही साथ बंजर खेतों को उपजाऊ बनाने का कार्य भी करते रहते हैं। वे सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं में गिरावट से भी निराश हैं, साथ ही पलायन की समस्या से भी। उनका कहना है कि कृषि पर अत्यधिक निर्भरता भी नुक्सानदेह साबित हो रही है।

उनका मानना है कि समाज अधिक बंटता जा रहा है। स्त्री शोषण-दलित शोषण भी बढ़ रहा है। सबको एकसाथ देखना होगा। उन्होंने आंध्रप्रदेश के टिंबकटू कलेक्टिव के साथ भी काम किया है। वे फुकुओका की पुस्तक 'एक तिनके से क्रांति' से बेहद प्रभावित हैं। धरामित्र ने स्थानीय लोगों को साथ लेकर छत्तीसगढ़ में 9000 एकड़ वन को भी पुनर्जीवित किया है। उन्होंने भोपाल के रीजनल कॉलेज में बीएड किया। गणित व फिजिक्स की पढ़ाई की, मराठी की भी। भोपाल के मोतीलाल विज्ञान महाविद्यालय से वनस्पति शास्त्र में एम.ए. किया व नागपुर से पीएचडी की। बाबा आम्टे के आश्रम गए। जेपी के आंदोलन को समझा। वर्धा के सेंटर फॉर साइंस और विलेजेस (ग्रामोपयोगी विज्ञान केंद्र) में कार्य किया। यहां ग्रामोद्योग, कृषि व सस्ते घर बनाने पर शोध किया। वे बोले थोड़े दिन तो सब ठीक लगा। मेरा कमोवेश प्रमोशन हो गया। संस्थान में नंबर दो

पर आ गया था, परंतु प्रशासनिक कार्यों की अधिकता में उलझ जाने से लगा कि अब मैं शोधकर्ता नहीं, बल्कि मैनेजर बन गया हूं। इसलिए वहां से अलग हो गया। गांवों में प्रयोगों की अनिवार्यता के दृष्टिगत मैंने सन् 1991 में वर्धा से 4 कि.मी. दूर करीब 2-3 एकड़ जमीन खरीदी। वैसे संस्था का पंजीकरण तो सन् 1987 में ही हो गया था। मुझे पता था औद्योगिक खेती से पारंपरिक कृषि प्रणाली पर लौटना एक दुष्कर कार्य है। मेरे ऊपर दोहरी जिम्मेदारी थी। गौरतलब है फुकुओका कहते हैं लाभ की चाहत अंततः हमें किसी दूसरे के भरोसे पर छोड़ देती है। अधिकांश किसान इसी दुष्चक्र में फंसकर खेती तो कर रहे हैं, लेकिन भोजन बाजार से खरीद रहे हैं।

संस्था ने 1991-92 से किसानों के साथ सीधा कार्य शुरू किया। कोशिश थी किसानों के समूहों का निर्माण कर सिनर्जी कायम की जाए। इसके पीछे वजह थी- समस्याओं और वास्तविकताओं को सरल ढंग से समझाया जा सका। सन् 1994 में 'अशोका फैलोशिप' मिल गई और स्वतंत्र कार्य प्रारंभ कर दिया। किसान समूह हेतु पहले एक गांव का चयन किया। समस्याओं व उनके हल ग्रामीणों से ही प्राप्त किए। अगले दो वर्षों में ऑर्गेनिक (जैविक) की ओर मोड़ने का प्रयास था। धीरे-धीरे विदर्भ के 20 गांवों के 400 किसान जुड़े और फैलोशिप के तहत 'किसान अध्ययन समूह' बनाए और सामूहिक प्रबोधन (जागरण) की दिशा में कार्य किया।

शुरूआत में कुल खेती में से एक एकड़ का मॉडल चुना। यह वजह थी कि किसान आर्थिक दबाव में न आएं। पारंपरिक तरीकों को प्रोत्साहित किया। कुल 10 से 12 फसलें लेने का प्रयास किया। पूरे आंकड़े रखे गए कि किस किसान ने कौनसी फसल ली है। लक्ष्य था तीन गुना, यानी 1200 किसानों तक पहुंचना। विदर्भ के 6 जिले आत्महत्या के लिए बदनाम हैं। इनमें से 4 पश्चिमी और 6ठा पूर्व में, यानी वर्धा है। यहां 55 से 60 प्रतिशत सेंद्रीय (ऑर्गेनिक) खेती होने लगी थी। यहां सन् 2001 से 2010 तक कार्य किया था। इससे घबड़ाकर 2008-10 में बीटी कपास कंपनियों ने बीज का विज्ञापन दुगना कर दिया। राजनीतिक दलों और नेताओं को रिश्वत दी। हमारा सारा काम चौपट हो गया। सन् 2008 में स्थानीय संस्था बंद हो गई।

इसके बाद 5-6 वर्ष तक टाटा ट्रस्ट के माध्यम से वाटरशेड का कार्य किया। इसमें बहुत समय लग रहा था, परंतु इसके बावजूद प्रयोगधर्मी कार्य नहीं हो पा रहा था। इस बीच 7 वर्ष पूर्व स्वाती सग्रे हमारे साथ आईं और स्थायी रूप से जुड़ गईं। चेन्नई स्थित व्हील्स इंडिया ने हमारे काम में रुचि दिखाई। सीएसआर के माध्यम से आर्थिक मदद भी की। अब हम जो कार्य कर रहे हैं, उसका 60 प्रतिशत शारीरिक (मेन्युअल) श्रम से होता है और 40 प्रतिशत धन प्रोजेक्ट से आता है। अभी ICICI Bank ने भी मदद शुरू की है और 300 किसान हमसे जुड़ गए हैं। इनके द्वारा हम रासायनिक खेती पर निर्भरता कम कर रहे हैं, धीरे-धीरे पूरी तरह से जैविक खेती पर चले जाएंगे। इसके अंतर्गत हम मूंग, तिल, उड़द, ज्वार, दोवर व अलसी जैसी 7 फसलों पर काम कर रहे हैं। किचन गार्डन विकसित कर रहे हैं और इसके माध्यम से बरसात में 10 तथा वर्षभर में 20 किस्मों की फसलें उगाई जा रही हैं।

वैसे हमारा मूलकार्य वर्धा के आरवी ब्लाक में है, जहां की जमीन बहुत खराब है, वहां गौंड आदिवासी बहुतायत में हैं। यहां की 60 प्रतिशत जमीन जैविक/प्राकृतिक खेती के अंतर्गत आ गई है। हमारा तरीका विकास (Development) का है, क्रांति (Revolution) का नहीं। संस्था के पास 2200 किसानों का डाटा है, जिसमें मिट्टी व पानी का विस्तृत दस्तावेजीकरण भी शामिल है। हमें लगता है कि हमारी

संप्रेषणीयता में अभी भी कमी है। धरामित्र ग्रामीण जीवनस्तर बेहतर बनाने के लिए कृषि पर निर्भरता कम करके सहायक कार्यों, जैसे- बकरी या मुर्गी पालन पर भी जोर दे रही है। इस हेतु बकरी की स्थानीय नस्ल 'बेरारी' को पालने पर जोर दिया जा रहा है। हमने ग्रामीणों को समझाया है कि कुछ भी मुफ्त नहीं मिलता। अपने काम में पशु चिकित्सकों की सहायता ली गई । अब दो गांवों के बीच एक स्थानीय पशु चिकित्सक तैयार किया गया है।

संस्थान ने नाबार्ड के साथ जलवायु परिवर्तन को लेकर भी कार्य शुरू किया है। गौरतलब है मध्य भारत पर जलवायु परिवर्तन का सर्वाधिक विपरीत प्रभाव पड़ रहा है। तारकजी ने अपना खेत संस्था को बेचकर वहां होस्टल व प्रयोगशाला, रिसाइकलिंग और तकनीक उन्नयन पर कार्य शुरू किया। वे 42 वर्षों से लगातार सक्रिय हैं। तुअर (अरहर) की संटियों को कोयले में बदलकर धुंआ रहित चूल्हा विकसित किया है। वे जलकुंभी से बहुत उच्च गुणवत्ता वाली खाद तैयार कर रहे हैं। संस्था ने बालू रेती (Sand) में विशिष्ट प्रकार की खाद डालकर सब्जियां पैदा करने में भी सफलता पाई है। आदिवासियों के सहयोग से वनौषधियां भी तैयार कर रहे हैं। लेमन ग्रास से विशिष्ट किस्म की जैविक खाद बना रहे हैं।

उनका कहना है वर्तमान में शोध के लिए कहीं से मदद नहीं मिल रही है। सभी धन कार्यक्रमों और परिणाममूलक योजनाओं के लिए ही मिल रहा है, जबकि धन की सर्वाधिक आवश्यकता तो शोध हेतु ही होती है। ऐसा न होने से नवाचार तो शून्य हो जाएगा। अब कोई भी ग्रांट मनमाफिक ढंग से इस्तेमाल नहीं की जा सकती। गौरतलब है, न तो कृषि, न ग्रामीण जीवन और न ही मौसम बंधे बंधाए ढर्रे पर चलते हैं। अतएव अलग-अलग विधाओं में विशेषज्ञ तैयार करने होंगे। वे मध्यप्रदेश के बागली में समाज प्रगति सहयोग (संस्थापक मिहिर शाह), जो 15 संस्थाओं का नेटवर्क बना रहा है, उसके सलाहकार हैं।

संस्था वर्मी कंपोस्ट पर भी नई तरह से कार्य कर रही है। तुअर व कपास की डंडियों से यह कार्य हो रहा है। धरामित्र ने जंगली मधुमक्खियों से शहद निकालने की जोखिम कम करने वाली तकनीक भी विकसित की है। इससे उनके छत्तों को नुक्सान नहीं पहुंचता। संस्था केले के तने से बहुत अच्छा व महीन कागज तथा सॉफ्ट व हार्डबोर्ड भी तैयार कर रही है। इसके लिए आसान तकनीक विकसित की गई है, जिसमें ऊर्जा भी बहुत कम लगती है। ये पैनल साउंड स्टूडियो, दरवाजे, खिड़कियों और एक्सपेंशन जॉइंट में काम आ सकते हैं। इसके अलावा केले के रेशे, फ्लायएश और थोड़ी सीमेंट मिलाकर छत के लिए चद्दर भी बनाई जा रही हैं। कोरोगेटेड व सादी दोनों तरह की चद्दरें बनाई जा रही हैं।

संस्था मिट्टी व पानी पर तमाम कार्य कर रही है तथा रासायनिक खेती के विकल्प के तौर पर 10 तकनीकों का पैकेज भी तैयार किया है। सुगंधित व औषधीय पौधों की खेती भी शुरू की गई है। इस हेतु बंजर व अनउपजाऊ जमीन का चयन किया गया है। इससे तमाम तरह के तेल (Essential oil) प्राप्त किए जाते हैं। संस्था वर्षा आधारित खेती को भी प्रोत्साहित कर रही है।

धरामित्र ने विदर्भ साइंस फोरम फॉर रूरल डेवलपमेंट के नाम से एक अनौपचारिक संगठन, जो ग्रामीण क्षेत्रों में तमाम गैर-सरकारी संगठन कार्य कर रहे हैं, को इकट्ठा करके बनाया है। इसमें 20 संगठन शामिल हैं और धरामित्र उनकी मदद करता है। इसके अलावा संस्था ने 'सस्टेनेबल एग्रीकल्चर मूव्हमेंट इन विदर्भ' की शुरूआत भी की है। महाराष्ट्र सरकार ने धरामित्र को 'Mother NGO in Water Shed Management' के रूप में मान्यता दी है। लंबी फेहरिस्त है संस्था के कार्यों व उपलब्धियों की । स्वातीजी का कहना है कि संस्था सरकारी योजनाओं, जैसे- मनरेगा के माध्यम से भी किसानों को जैविक खेती के प्रति प्रोत्साहित करती है। संस्था ने 24 गांवों में 800 किचन गार्डन स्थापित कर लिए हैं। धरामित्र कृषि व ग्रामोद्योग को समर्पित एक परिपूर्ण इकाई है। धरामित्र और डॉ. तारक काटे की उपस्थिति पूरे भारत में महसूस की जा सकती है।

निष्कर्ष

भारत के भविष्य को समझना हो तो गांधी के 'आखिरी वसीयतनामे' को पढ़ना-समझना चाहिए। इसमें गांधी ग्रामसेवक की संकल्पना पर बात करते हैं। धरामित्र उस पर खरा उतरता है। धरामित्र इस बात को समझ चुका है कि कोई भी कार्य अकेले कर पाना संभव नहीं। इसलिए वह लगातार अपनी संप्रेषणीयता को विकसित करने में रत है।

आदर्श केंद्रीय कृषि बहुउद्देशीय संस्था

जैविक खेती: बदलाव की आहट

गांधी जी कहते हैं, 'लोग कहते हैं- 'साधन आखिर साधन ही है।' मैं कहूंगा- 'साधन ही आखिर सबकुछ है।' जैसे साधन होंगे वैसा ही साध्य होगा। साधन और साध्य के बीच दोनों को अलग करने वाली कोई दीवार नहीं है। खेती को लेकर यह बात अक्षरश: सत्य है। यदि रासायनिक जहरीले कीटनाशक और खाद का प्रयोग कृषि में करेंगे तो फसल भी जहरीली ही होगी, और यह हम सब आज देख ही रहे हैं। जैविक खेती के पुनराविष्कार की धुले, महाराष्ट्र की यह कहानी खेती के मूल स्वरूप की ओर लौटने की आहट ही है।

हाल के समय में कृषि को लेकर कुछ नए सिरे से और अलग दृष्टिकोण से विचार होना शुरू हुआ है। गौरतलब है आधुनिक कृषि के विकास का कालक्रम करीब दस से ग्यारह हजार वर्ष पुराना है। कृषि ने मनुष्य (सेपियंस) के जीवन में आमूलचूल परिवर्तन किया है। भारतीय संस्कृति कृषि कार्य को सर्वश्रेष्ठ उद्यम मानती है और बाकी सब व्यवसायों की श्रेणी इससे निम्न है या नीचे है, परंतु वर्तमान परिदृष्य इस कथन की सत्यता पर संदेह उत्पन्न करता है। वजह है, कृषि कार्य करने वाले अर्थात किसानों के प्रति घटता सम्मान। वहीं, दूसरी ओर युवा चिंतक युवाल नोआ हरारी अपनी पुस्तक सेपियंस: मानव जाति का संक्षिप्त इतिहास' में कृषि क्रांति को 'इतिहास का सबसे बड़ा धोखा' निरूपित करते हैं। इसको सिद्ध करने के लिए वे समझाते हैं- 'एक औसत कृषक एक औसत भोजन खोजी के

मुकाबले ज्यादा कठोर मेहनत करता था और बदले में एक बदतर खुराक हासिल करता था। कृषि क्रांति इतिहास का सबसे बड़ा धोखा था।' वे इस बात को आगे ले जाते हुए तर्क देते है- 'जिम्मेदार कौन था? जिम्मेदार न राजा थे ना व्यापारी थे। अपराधी थीं मुट्ठीभर वनस्पति प्रजातियां, जिनमें गेहूं, चावल और आलू शामिल थे। इन वनस्पतियों ने होमोसेपियंस को पालतू बनाया था ना कि होमोसिपयंस ने इन्हें।'

उपरोक्त दोनों नजरियों के अपने-अपने तर्क, अपने-अपने गुण-दोष व अपने-अपने समर्थक और विरोधी हैं, परंतु जब हम रासायनिक खेती बनाम जैविक खेती की बात करते हैं तो, यह स्पष्ट हो जाता है कि रासायनिक खेती के पक्ष में कहने-सुनने को

बहुत कम है। वहीं, जैविक खेती एक तरह से वैश्विक व्यवस्था की न केवल धरोहर है, बल्कि जीवनदायी भी है। सामान्यतया बर्बाद हो चुकी परिस्थितियां दोबारा ठीक नहीं हो पातीं और पुनर्स्थापित तो हो ही नहीं पातीं, परंतु जैविक खेती ने कृषि की सार्थकता, शाश्वतता व निरंतरता को नए सिरे से स्थापित किया है और इस सृष्टि को बचाने का सूत्र भी दिया है।

आधुनिक जैविक या ऑर्गेनिक खेती वास्तविक अर्थां में खेती के मूलस्वरूप के काफी नजदीक पहुंचती है। भारत में जैविक खेती को लेकर महाराष्ट्र अग्रणी रहा है और महाराष्ट्र का धुले (धूलिया) जिला उन क्षेत्रों में से है, जहां से जैविक खेती को नए आयाम मिले हैं। धुले को जैविक जिले का सम्मान भी प्राप्त है।

धुले और जलगांव महाराष्ट्र के खानदेश अंचल में आते हैं। वैसे पहले इन्हें पूर्वी और पश्चिमी खानदेश कहा जाता था। खानदेश, नाम कान्हा (कृष्ण) से निकला है। इसे ठीक से समझें, तो यह कान्ह-देश, यानी एक ऐसा स्थान, जहां कृष्ण का निवास है। धुले के पूर्व में जलगांव, पश्चिम में नंदूरबार, उत्तर में मध्यप्रदेश का निमाड़ अंचल और दक्षिण में नगर जिला है। तापी पंजारा, अनेर, बुराई इस क्षेत्र की मुख्य नहरें हैं। यहां की विशिष्ट या अद्भुत संरचना है सिंचाई की फड़ पद्धति। इसे सामूहिक सिंचाई भी कहा जा सकता है। धुले जिले का क्षेत्रफल 8063 वर्ग किलोमीटर और आबादी 30,48,781 है। धुले शहर की आबादी करीब 4 लाख है। इसे सन् 1601 में मुगलों ने बसाया था और सन् 1818 ई. में यह बंबई प्रेसिडेंसी में शामिल हो गया। आधुनिक धुले शहर की योजना भारतरत्न एम (मोक्षगुंडम) विश्वेश्वरैया ने बनाई थी। उन्होंने स्थानीय फड़ सिंचाई पद्धति में भी बहुत से सुधार किए थे। इस जिले के उत्तर में सह्याद्री पर्वत शृंखला है, जिसे सतपुड़ा पर्वत शृंखला भी कहते हैं, जो कि मध्यप्रदेश व महाराष्ट्र को विभाजित करती है। इस क्षेत्र में औसत वर्षा 750 मि.मी. है और वनस्पतियां अधिकांशतः पर्णयाती ही हैं। इस जिले में चार खंड धुले, साक्री,शिंडखेड़ा और शिरपुर हैं। यहां की स्थानीय विशिष्ट बोली 'अहिरानी' है और यह हिंदी, गुजराती और मराठी का खूबसूरत मिश्रण है।

तो शुरू करते हैं, इस जिले की जैविक खेती की कथाओं की!

आदर्श केंद्रीय कृषि बहुउद्देशीय संस्था का मुख्यालय तो धुले (धूलिया) जिला मुख्यालय में है, लेकिन कार्यक्षेत्र पूरे जिले में विस्तारित है। इस संस्था की स्थापना सन् 2007 में हुई थी। श्री अविनाश पाटिल इसके अध्यक्ष हैं और श्री मधुकर पाटिल, सचिव। महाराष्ट्र में जैविक खेती को राज्य सरकार की ओर से बहुत अधिक प्रोत्साहित किया जाता है। धूलिया जिला इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। राज्य के कई कृषि अधिकारियों ने जैविक खेती को बढ़ावा देने के लिए अपनी बंधे - बंधाई सरकारी दिनचर्या को एकतरफ रखकर बेहद नवाचार वाले कदम उठाए हैं। समिति के सदस्यों का हमसे आग्रह था कि हम पहले यह जान लें कि जैविक खेती किस तरह से इस जिले में न केवल प्रचलन में आई, बल्कि बेहद लोकप्रिय भी हुई। व्यापकता की वजह इसका आर्थिक रूप से सक्षम होना भी है। इस संदर्भ में हमारी भेंट शासकीय कृषि अधिकारी श्री विनय बोरसे से हुई, जो सिमखेड़ा विकासखंड में पदस्थ हैं। उन्होंने बताया कि जैविक खेती के पुनः प्रारंभ होने का पहला कालखंड सन् 2002 से 2007 तक का है। इस दौरान सर्वप्रथम गावों में निवासरत् स्वाध्याय परिवार के समूहों के साथ कार्य प्रारंभ किया गया। ये समुदाय या वर्ग समुद्र, जल, नदी, गाय एंव ग्राम की मिट्टी का पूजन करता है। सभी तरह के पशु-पक्षियों के साथ सर्प को भी अपना मित्र मानता है और कृषि व सृष्टि में उनके योगदान के प्रति कृतज्ञ रहता है। इस वर्ग का एकमात्र उद्देश्य कृषि उत्पादनभर नहीं है। इन परिवारों के साथ ही साथ धुले में कृषि पद्वीघर संघ (कृषि स्नातकों) के समूह का गठन जैविक खेती को विकसित करने के लिए किया गया। इसकी शुरूआत 85 सदस्यों के साथ की गई थी। उस समय जैविक खेती को लेकर न तो अधिक साहित्य उपलब्ध था और न ही इस क्षेत्र में इसे लेकर कोई शोध ही हुआ था। एक-दूसरे को देखकर व प्रयोग करके सीखा और स्वयं ही प्रशिक्षित हुए। तदुपरांत प्रशिक्षण देना भी प्रारंभ कर दिया। धीरे-धीरे लोग जुड़ते गए। नैनीताल से विनीता शाह ने आकर इस कार्य को गति दी। बाद में बायोडायनामिक के माध्यम से न्यूजीलेंड से पीटर प्रॉक्टर व रचेल प्रॉक्टर आए। उनके माध्यम से कंपोस्ट का विस्तार हुआ। धुले जिले के चारों विकासखंडों में जैविक खेती का विस्तार होता चला गया।

इसी क्रम में सन् 2007 में आदर्श सेंद्रीय कृषि बहुउद्देश्शीय संस्था का गठन हुआ और बाद में जैविक उत्पादों की बिक्री के लिए जयभूमि आदर्श फार्मर प्रोड्यूसर कं.लि. का भी गठन किया गया। यह कंपनी जैविक कृषि के विस्तार और प्रमाणीकरण (सर्टिफिकेशन) का कार्य भी करती है। इस तरह एक कलस्टर से शुरू हुआ कार्य पूरे जिले में फैल गया। आदर्श समिति के साथ शुरूआत में 68 किसान जुड़े और अब उनकी संख्या बढ़कर करीब 2000 तक पहुंच चुकी है। संस्था से जुड़े किसानों में से

अधिकांश किसान मूलतः बीटी कपास ही उपजाते थे। वैसे कुछ किसान तब भी देशी कपास उगा रहे थे, परंतु पिछले करीब 5 वर्षों से पूरा समूह देशी कपास और कमोवेश जैविक खेती की ओर मुड़ गया है। यहां कपास तो अब पूरी तरह से जैविक ही पैदा

की जा रही है। गौरतलब है बीटी कपास से जमीन को बहुत ज्यादा नुक्सान पहुंचता था, क्योंकि वह जमीन से बहुत ज्यादा पोषण तत्व छीन लेता है। साथ ही ऑर्सेनिक जहरीला कार्बन का प्रतिशत भी बहुत ज्यादा बढ़ गया था। पी.एच. स्तर तो बढ़कर .60 हो गया था, जैविक खेती के बाद घटकर .30 तक आ गया है।

इसके बाद हमने अपने साथियों को श्री दगड़कर के पास विदर्भ में भेजा और उन्हें शैक्षणिक तौर पर भी तैयार किया। वहां पर जो देखा उससे जैविक खेती की बारीकियां समझ में आईं। यहां भी किसान एक-दूसरे से जुड़ते चले जा रहे थे। अब हमारे सामने प्रमाणीकरण या सर्टिफिकेशन की बारी आई। गौरतलब है जैविक खेती का सर्टिफिकेशन तब और भी कठिन हो जाता है, जबकि उस खेत में पहले से रासायनिक खेती हो रही हो। जैविक फसल के प्रमाणीकरण के लिए अनिवार्य है कि सर्टिफिकेशन के लिए उत्पाद आने के दो वर्ष पहले से उस भूमि पर किसी तरह के रसायन का प्रयोग नहीं किया होना चाहिए। उसके बाद ही यह माना जाता है कि तीसरे साल में खेती पूरी तरह से जैविक (ऑर्गेनिक) पर स्थानांतरित (शिफ्ट) हो गई है। धीरे - धीरे तमाम पढ़े-लिखे लोग व ऐसे तमाम चिकित्सक, जो रसायनों के दुष्परिणामों को समझते हैं, जैविक खेती से जुड़ने लगे।

विनय बोरसे का कहना है कि करीब 20 वर्ष पूर्व, यानी सन् 2003 में अनायास ही जैविक खेती की प्रक्रिया को सार्वजनिक स्वीकृति प्राप्त होना शुरू हो गई थी। शासकीय कृषि विभाग ने स्थानीय स्तर पर 'गेहूं उत्सव' की शुरूआत की। स्थानीय अनाज मंडी में इसे आयोजित किया। 50-50 किलो के बोरे में जैविक गेहूं बिक्री के लिए रखा गया। यह मेला या उत्सव सात दिवसीय था, परंतु आश्चर्य की बात यह हुई कि उत्सव सुबह 9 बजे आरंभ हुआ और शाम 4 बजे तक सारा गेहूं बिक गया। इससे इस तरह की जैविक उपज की मांग का भी पता चला। स्थानीय लोगों ने, उन सभी

किसानों से उनके नाम और पते ले लिए और अगले वर्ष की एडवांस बुकिंग भी कर ली। किसानों को फायदा यह हुआ कि उनका गेहूं सीधे ग्राहकों ने लिया, कमीशन बचा और तत्काल भुगतान भी मिल गया। इसके बाद महाराष्ट्र सरकार ने प्रत्येक जिले में ऐसा उत्सव आयोजित करना अनिवार्य कर दिया। स्थानीय समिति से जुड़े किसान को प्रशिक्षण देने व निगरानी के लिए 5 लाख रु. भी दिए गए।

इसके परिणामस्वरूप तमाम तरह की मिश्रित खेती की शुरूआत भी हो गई। किसानों को भी विश्वास हुआ कि वे जो उपजाएंगे वह पूरा बिक जाएगा। किसानों में जबरदस्त ऊर्जा व चेतना जागी और उनमें समूह में काम करने की इच्छा भी जागरित हुई। अब समूह बनने लगे। यह समिति भी उसी पहल का परिणाम ही तो है। आज समिति/संस्था का फैलाव 90 से ज्यादा गावों में हो गया है। यह संस्था धूलिया के अलावा समीपवर्ती जलगांव, नंदूरबार व निलोम में भी कार्यरत है। संस्था के अध्यक्ष श्री अविनाश पाटिल का कहना था कि कई बार स्वार्थ भी बहुत सकारात्मक परिणाम लेकर आता है। उनका कहना था कि धूलिया जिले के अनेक हिस्सों में पानी की कमी की वजह से सूखी खेती (ड्राय फार्मिंग) होती है और इसमें बाजरा ज्यादा बोया जाता है। कोविद/कोरोना के दौरान इन मोटे अनाजों की मांग बहुत बढ़ गई। इससे किसानों को काफी मुनाफा हुआ। तापी नदी के क्षेत्र में धनशक्ति नामक ज्वारी व बाजरा (ज्वार - बाजरा) होता है। इससें 81 पीपीएम लौह तत्व होता है, जो महिलाओं के हीमोग्लोबीन को बहुत बढ़ाता है। यह उन्हें गर्भावस्था के दौरान जबरदस्त पोषण देता है। यह बूढ़ों और बच्चों के लिए भी बेहद फायदेमंद है। आज गेहूं के साथ उपरोक्त सभी फसलों के बहुत अच्छे दाम मिल रहे है। शुरूआत गेहूं से की थी, लेकिन अब मुख्य ध्यान कपास पर है।

कपास दुनिया की मुख्यतम वाणिज्यिक (कमर्शियल) फसल है। भारत में कपास की सभी चारों किस्में, जो दुनिया में उपलब्ध हैं, लगाई जाती हैं। भारत में मुख्य तौर पर दस राज्यों- पंजाब, राजस्थान, हरियाणा, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, गुजरात, आंध्रप्रदेश, तेलंगाना, कर्नाटक व तमिलनाडु में कपास की पैदावार होती है। महाराष्ट्र में लगभग 22 लाख किसान कपास की खेती करते हैं। यह राज्य कपास उत्पादन में पहले नंबर पर है। कपास की फसल को लेकर सबसे विचारणीय तथ्य और प्रश्न यह है कि इसको कुल उपज क्षेत्र के महज 5 प्रतिशत क्षेत्र में कपास पैदा की जाती है और कृषि में इस्तेमाल होने वाले कुल कीटनाशकों में से करीब 54 प्रतिशत का प्रयोग इसी एक फसल पर होता है। याद रखिए ये कीटनाशक मानव जाति के लिए सबसे खतरनाक वस्तु हैं। भोपाल के यूनियन कार्बाइड से गैस लीक होने के बाद हुए गैस कांड को मानव इतिहास की सबसे बड़ी व गंभीर दुर्घटना माना जाता है। इतनी खाद व कीटनाशकों की खपत के बावजूद भारत में प्रति हेक्टेयर कपास का उत्पादन मात्र 462 किलो (सन् 2021 के आंकड़े) ही है, जबकि विश्व के बाकी हिस्सों में औसत 723 से 750 किलो प्रति हेक्टेयर है।

कपास के उत्पादन में बीटी कपास के प्रवेश को एक क्रांतिकारी मोड़ माना गया था। दावा किया गया था कि इससे पैदावार में जबरदस्त बढ़ोत्तरी होगी और खाद व कीटनाशकों का उपयोग भी बहुत कम करना पड़ेगा, परंतु ऐसा कुछ भी नहीं हो पाया। बीटी कपास बीजों की वजह से शुरूआत के कुछ वर्षों में पैदावार में वृद्धि अवश्य हुई, लेकिन अब उपज लगातार कम होती जा रही है। मध्यप्रदेश की कंपनी बायो-रे (अब रीमा इंडिया) ने जैविक कपास की पूरी फसल को खरीदने का अनुबंध किया। श्री अविनाश पाटिल का कहना है कि यह एक तरह से कॉन्ट्रेक्ट फार्मिंग ही है। इसके अंतर्गत संबंधित कंपनी और किसान के बीच एक अनुबंध होता है। समिति मूलतः ग्यारंटर का कार्य करती है और वह आंतरिक नियंत्रण प्रणाली (इंटरनल कंट्रोल सिस्टम) का संचालन करती है। गुणवत्ता और जैविक शुद्धता बनाए रखने के लिए बीज कपास खरीदने वाली कंपनी ही देती है। इस हेतु वह 400 ग्राम बीज के लिए औसतन 600 रु. से 650 रु. के बीच राशि लेती है। समिति इन दिनों दो तरह के कपास बीजों पर कार्य कर रही है। पहला है नमस्कार गोल्ड-81। यह बेहतर देशी कपास है। इसमें पहले वर्ष 500 रु., दूसरे वर्ष 650 रु. व तीसरे वर्ष 750 रु. बोनस प्रति क्विंटल कंपनी द्वारा दिया जाता है। दूसरी किस्म है नॉन बीटी कपास। यह भी देशी कपास की ही किस्म है, लेकिन इसका रेशा थोड़ा मोटा होता है। इस पर पहले वर्ष 250 दूसरे वर्ष 450 व तीसरे वर्ष में 650 रु. प्रति क्विंटल बोनस मिलता है। दोनों किस्मों की कपास को कंपनी 5000 रु. प्रति क्विंटल की दर से खरीदती है। श्री पाटिल का कहना है कि बीज खराब होने की दशा में जवाबदारी कंपनी की होती है। इसके अलावा अन्य सारा जोखिम किसान का ही होता है। यह पूछने पर कि यदि कपास देशी ही है, तो इसमें स्वयं का बीज क्यों नहीं सृजित

होता, तो इसका कोई स्पष्ट जवाब सामने नहीं आया, परंतु उन्होंने कहा कि हम अपना स्वयं का बीज विकसित कर रहे हैं, जो 1-2 वर्षों में आ जाएगा।

समिति को किसानों को ऋण भी उपलब्ध करवाना पड़ता है। इसके पीछे कारण यह है कि बीटी बीज, रासायनिक खाद व कीटनाशक बेचने वाले स्वयं ही किसान को ऋण उपलब्ध करवाते हैं, इसलिए समिति को भी ऐसा करना ही पड़ता है। कंपनी किसानों के साथ एक अनुबंध करती है, जिसमें अन्य शर्तों के साथ यह उल्लेख है कि किसी प्राकृतिक दुर्घटना की स्थिति में कंपनी की कोई जवाबदारी नहीं है और वह किसी भी तरह का मुआवजा नहीं देगी। साथ ही वह उत्पादित माल के 80 प्रतिशत को खरीदने की ग्यारंटी देती है। तमाम विरोधाभासों के बावजूद जैविक खेती को बढ़ावा देने हेतु यह एक महत्वपूर्ण पहल कही जा सकती है।समिति का मानना है कि किसानों को मनमाफिक जैविक खेती के क्षेत्र में कदम रखने के लिए आवश्यक है कि कुछ वर्षों तक इस तरह की सुनिश्चितता में कार्य करें। समिति ने किसानों को जैविक खेती के 8 महत्वपूर्ण अवयवों से परिचित कराया है। ये स्तंभ है-

1. मेड़
2. पेड़ व पशु-पक्षी (कंपोस्ट के लिए)
3. अंतर- फसल या (इंटर क्रॉपिंग), यानी एकसाथ दो या इससे ज्यादा फसलें लगाना।
4. मिश्रित फसल (मिक्स क्रॉपिंग) इसे फसल की बर्बादी से बचाने में मदद मिलती है।
5. **जाल या ट्रेप फसलें:** यह जैविक खेती का महत्वपूर्ण पक्ष है। इसमें खेतों की मेड़ व बीच में ऐसी फसल ली जाती है, जिसकी ओर कीड़े आकर्षित होते हैं और मुख्य फसल को नुक्सान नहीं पहुंचाते। जैविक प्रमाणीकरण सर्टिफिकेशन हेतु ऐसा करना अनिवार्य है। इसे हेतु सूरजमुखी, गेंदाफूल, सौंफ व राई के पौधे लगाए जाते हैं। यह कीटनाशक का काम भी करते हैं। इन पौधों का चयन समिति व किसानों के आपसी विमर्श और प्रयोगों के माध्यम से किया है
6. बायोमास का पुनर्चक्रीकरण (रिसाइकलिंग)
7. पौधों का पोषण
8. पौधों का संरक्षण

यूं तो जैविक खेती एकल खेती का विकल्प है, परंतु यहां यह पूरी तरह से खरी बात नहीं है। मिश्रित खेती व ट्रेप फसलों की वजह से ही एकल फसलों से छुटकारा मिल पाता है, वरना यहां मुख्य फसल तो कपास ही है। वर्तमान समय में यह पूरा इलाका जिस एक बेहद गंभीर समस्या से गुजर रहा है वह है ज्यादा फसल लेने की होड में खेतों से मेड़ ही खत्म नहीं हुई, बल्कि पेड़ भी खत्म से हो गए हैं। स्थिति की गंभीरता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि चिड़ियाएं अब जैविक कपास के पौधों पर अंडे देने को मजबूर हो रही हैं। गौरतलब है पश्चिमी मध्यप्रदेश में बीटी कपास के विपरीत प्रभावों को लेकर हुए अध्ययन में यह सामने आया था कि यहां हल्की से लेकर गंभीर खुजली के मामले बढ़े और साथ ही चमड़ी पर लाली, सूजन और फुंसियां हुई। गंभीर प्रकरणों में आंखें भी लाल हो गईं और सूज गईं। सभी को खुजली भी हुई (आशीष गुप्ता व आशीष मंडलोई, बड़वानी व धार जिला अक्टूबर-अगस्त, 2005)। वहीं, वारंगल में बड़ी मात्रा में पशुओं की मृत्यु भी बीटी कपास की वजह से हुई। वहां 25 गावों में करीब 1820 पशुओं के मरने की बात सामने आई थी।

समिति यह बात भी किसानों के मध्य संप्रेषित कर रही है कि किसान को अपने उपभोग का अधिकांश भोजन स्वयं के खेत से ही प्राप्त करना चाहिए। इसीलिए कपास के साथ ही साथ,ज्वार, बाजरा, गेहूं, मूंग, उड़द, मक्का, राई, प्याज, आलू, हल्दी, नींबू के अतिरिक्त अनेक तरह की सब्जियों के उत्पादन को भी प्रोत्साहित व प्रशिक्षित किया जा रहा है। इसके अलावा सीताफल, अनार, पपीता और आंवला को भी प्रचलन में लाया जा रहा है। इस सबसे अतिरिक्त सेवड़ा (सहजन, ड्रमस्टिक) को भी बड़े पैमाने पर लगाया जा रहा है। किसानों को यह बताया जा रहा है कि रासायनिक से जैविक खेती में स्थानांतरित होने के बाद 2 से 3 साल तक लागत अधिक लगती प्रतीत होती है, क्योंकि उत्पादन में कमी आती है। वहीं, उसके बाद उत्पादन भी अधिक

मिलने लगता है खर्चा भी कम हो जाता है। महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि जैविक खेती हर किसी को अनुकूल नहीं बैठती, क्योंकि यह अधिक श्रमसाध्य है। श्री पाटिल का कहना है, जिन लोगों ने रासायनिक खेती में अत्यधिक पारंगतता (मास्टरी) प्राप्त कर ली थी, वे ही सबसे पहले जैविक खेती की ओर आकर्षित हुए, क्योंकि वे रासायनिक खेती के दुष्परिणाम भी सबसे अच्छी तरह से समझ गए थे। किसानों को चाहिए कि सर्वप्रथम वे अपने स्वयं के उपभोग के लिए ही जैविक खेती करे।

समिति के सचिव श्री मधुकर पाटिल का कहना है कि धुले जिले में जैविक खेती की सफलता के पीछे अनेक संस्थाओं का अनथक परिश्रम और विशेषज्ञता भी रही है। इनमें प्रमुख हैं-

- महाराष्ट्र शासन कृषि विभाग
- पद्वीघर संघ
- ल्युपिन फाउंडेशन
- राज्य कृषि विकास केंद्र - धूलिया
- आदर्श सेंद्रीय कृषि समिति
- समृद्धि फाउंडेशन
- बायो-रे

इसके अलावा सबसे महत्वपूर्ण है काश्तकारों की भागीदारी व सहमति।

प्रमुख बात यह है कि धुले अपने आप में कोई बड़ा बाजार नहीं है। सरकार के सकारात्मक रुख की वजह से किसान दोबारा (पहली बार हरित क्रांति) अपनी कृषि प्रणाली में परिवर्तन को तैयार हुए है। इसी वजह से धुले में जैविक खेती का क्षेत्रफल में भी लगातार वृद्धि होती जा रही है।

बातों ही बातों में कृषि विस्तार अधिकारी ने स्वीकार किया कि हमारी सबसे बड़ी गलती, जैविक खेती को प्रोत्साहन देने में यह रही कि हमने उन्हें लालच दिया कि आपको आपकी फसल (उत्पादन) का बहुत ज्यादा दाम मिलेगा। इससे जो किसान आकर्षित हुए उनके मन में केवल अधिक धनोपार्जन की आकांशा ही बलवती हुई। कायदे से हमें उन्हें सिर्फ़ आर्थिक लाभ के इसके दीर्घकालीन लाभों, जैसे- मिट्टी की उर्वरता का बढ़ना, पानी की बचत, आर्थिक बचत, बीज का स्वयं उत्पादन करना, बेहतर स्वास्थ्य आदि पर अधिक जोर देना चाहिए था, परंतु जल्दबाजी में हम उन्हें लालच दे बैठे। जब पहले 2 वर्षों में किसानों को लाभ नहीं हुआ, तो उन्होंने घबड़ाकर जैविक खेती से मुंह मोड़ लिया। अब उनका पुनः इस ओर आकर्षित होना कमोवेश असंभव सा हो गया है। इसके अलावा सन 2002-03 में धूलिया पैटर्न के अंतर्गत जैविक खेती की ओर उन्मुख होने वाले किसानों को अधिक मात्रा में सब्सिडी देना भी उचित कदम नहीं था। तब 3 करोड़ रु. की सब्सिडी दी गई थी। इसके बजाए उन्हें सुस्थिर (सस्टेनेबल) खेती की ओर प्रेरित करना चाहिए था। उनकी मदद बेहतर मार्केटिंग व बेहतर तकनीक उपलब्ध करवाने हेतु की जानी चाहिए थी। साथ ही जो धन सब्सिडी में लगाया गया, उसे स्थानीय बाजार विकसित करने में निवेश करने से अधिक बेहतर व टिकाऊ परिणाम सामने आ सकते थे। बहरहाल अब नए सिरे से रणनीति बनाने की ओर ध्यान दिया जा रहा है।

जैविक खेती में समझ का विस्तार बीजों के संग्रहण की वजह से भी हुआ है। राही बाई कोहरे इसका एक जीवंत उदाहरण है। इस वक्त कम से कम 200 महिलाएं पारंपरिक व देशी बीजों के संग्रहण व संकलन के कार्य में जुटी हुई हैं। समिति के पदाधिकारियों के साथ हमने उनके सदस्यों मधुकर शांताराम पाटील एवं दिलीप रामदास पाटिल के खेत, जो कि ग्राम वडने में स्थित है, को देखा और समझा। इन्ही के खेत में शेतकारी प्रशिक्षण केंद्र भी संचालित होता है। यहां पर आना एक बेहद शिक्षाप्रद अनुभव रहा। यह खेत करीब 8 एकड़ का है। इसमें जैविक तौर पर गेहूं, सोयाबीन, कपास, राई, लहसुन, सीताफल, मूली, ज्वार, बाजरा और मक्का लगाया जाता है। मेड़ पर अंजन के पेड़ है, जिसकी पत्तियां जानवरों में कैल्शियम की भरपूर मात्रा में पहुंचाती हैं। इस खेत में ये लोग 2 से 3 फसलें एकसाथ लेते हैं। इंटरक्रॉपिंग और मिक्सक्रॉपिंग दोनों ही करते हैं। इसी के साथ खेत की मेड़ पर सूर्यमुखी और सूर्यफूल ट्रेपक्रॉप के लिए लगाते हैं। कीड़े इसकी ओर आकर्षित हो जाते हैं और मुख्य फसल पर आक्रमण नहीं

करते। वैसे भी कपास की कॉन्ट्रेक्ट खेती में ट्रेपक्रॉप लगाना अनिवार्य ही है, परंतु ये लोग इसका प्रयोग सभी फसलों के साथ करते हैं। इसके अलावा मेड़ पर बड़ी संख्या में गिरिपुष्प के पेड़ भी लगाए गए हैं। इसकी पत्तियां खेतों में गिरती हैं, जिससे कि खेत में नाइट्रोजन की कमी पूरी हो जाती है। धुले के तमाम खेतों की मेड़ पर यह पेड़ मौजूद है। अब तो महाराष्ट्र सरकार ने भी बड़े पैमाने पर जंगलों और बंजर पड़ी सरकारी जमीनों पर गिरिपुष्प को लगाया है। इससे पूरे इलाके की मिट्टी में नाइट्रोजन की मात्रा में लगातार वृद्धि हो रही है। इतना ही नहीं गिरिपुष्प के फूल को बिखरा देने से चूहों का प्रकोप भी कम हो जाता है। यहां पर ट्रैक्टर के साथ हल-बैल से भी खेती होती है। यहां पर सभी प्रकार की जैविक खाद व कीटनाशक बनाने के प्रशिक्षण के साथ खेत में मौजूद बायोमास के रचनात्मक प्रयोग का प्रशिक्षण भी दिया जाता है। पाटिलद्वय का मानना है कि इस समय जैविक खेती के सामने सबसे बड़ी समस्या है स्वयं को आसपास हो रही रासायनिक खेती के दुष्प्रभावों से बचाकर रखना। यह तय है कि मेड़ की वापसी व उस पर पेड़ों पर सूरजमुखी आदि लगाने से कीटों का प्रभाव कम तो हुआ है, लेकिन इस हेतु अत्यंत सजग रहना पड़ता है। हमने इस दौरान पाया कि कोने पर लगी फसलों को तो कीड़े खा गए हैं और पत्तों पर छेद भी स्पष्ट दिख रहे हैं, लेकिन मुख्य फसल एकदम स्वस्थ व कीटरहित है।

पाटिल बंधुओं के गांव से निकलकर हम उससे करीब 40 किलोमीटर आगे ग्राम बोरीस पहुंचे। वहां हमारी भेंट डॉ. अनिलचंद नेमीचंद जैन से हुई। वे मूलतः चिकित्सक हैं और इसी गांव में प्रेक्टिस करते है। वे काश्तकार भी हैं। चर्चा के दौरान उन्होंने बताया कि 10 वर्ष पहले जैविक खेती के क्षेत्र में आए। इससे पहले वे रासायनिक खेती ही कर रहे थे। रासायनिक खेती के दुष्प्रभाव उनके सामने आने लगे थे। उपज में धीरे-धीरे कमी आने लगी थी। उन्होंने बताया कि सन् 2005 में एक एकड़ में करीब 15 क्विंटल बी.टी. कपास की पैदावार हो जाती थी, परंतु सन् 2010 में यह घटकर 10 क्विंटल प्रति एकड़ रह गई। अब तो 5 क्विंटल भी निकल आए, तो एहसान मानना चाहिए। इसके

विपरीत खेती की लागत बढ़ती चली गई, यानी बीज, पानी,डीजल, बिजली, खाद, कीटनाशक व मजदूरी भी बढ़ती चली गई। सन् 2010 में नमस्कार गोल देशी कपास लगाई। इस हेतु माइक्रोन्यूट्रिंट भी स्वयं ही तैयार किया। वेज डी-कंपोस्ट (लिक्विड) भी खुद ही तैयार किया और मक्का, गेहूं, तिल्ली, चना, तुअर आदि पर इसके प्रयोग के बेहतरीन नतीजे भी सामने आए। इसकी वजह से जमीन में जीवाणुओं की संख्या में भी वृद्धि हुई। इस डी-कंपोस्ट में सभी वनस्पतियों के अलावा लोहे की कीलें डाली गईं, इससे मिट्टी में लौहतत्वों की कमी भी दूर हुई। इस विधि से हुई फसल बेहद पौष्टिक होती है। जैविक खेती वाले खेतों में औसत उत्पादन 8.50 क्विंटल निकला, जबकि रासायनिक खेती में यह 3.5 क्विंटल ही हुआ। ये मिक्स फसल लगाते हैं। 8 वर्षों तक अमरूद लगाने के बाद अब उसे निकाल दिया है। यह पूछने पर कि किसान जो जैविक खेती करते हैं, ऐसी संस्थाओं से छिटक क्यों रहे हैं? इस पर उनका कहना था कि इसके दो कारण हैं- पहला, यह कि कई संस्थाएं/समितियां अपने मूल उद्देश्यों से भटक जाती हैं। दूसरा और अधिक महत्वपूर्ण कारण यह है कि समिति की वजह से निगरानी काफी सख्त हो जाती है और कई किसान जो चोरी - छुपे रासायनिक पदार्थों का प्रयोग करते हैं, वे ऐसा नहीं कर पाते। परिणामस्वरूप वे स्वयं को इससे अलग कर लेते हैं और मिलावटी जैविक पदार्थ बेचते रहते हैं। वे बताते हैं कि एक बार ऑर्गेनिक खेती करने के बाद किसान सामान्यतया इस तरह की खेती से अलग नहीं हो पाते, परंतु मार्केटिंग का कार्य ठीक से न हो तो, टिके रहना असंभव हो जाता है, खासकर भीतरी इलाकों में। यह तय है कि जैविक कृषि उत्पादों को अलग से बाजार उपलब्ध होना चाहिए और उचित दाम का मिलते रहने चाहिए।

धूलिया जिले में जैविक खेती की बात करें तो, 20 वर्ष पहले बायो-रे नामक कंपनी ने यहां प्रवेश किया। तब बीटी कपास नया-नया आया था और उससे उपज भी काफी ज्यादा मिल रही थी। इसे बीटी बूस्ट काल भी कह सकते हैं। 5 वर्षों में ही उत्पादन में कमी आ गई और किसान हतप्रभ से रह गए। तब आदर्श समिति ने अपना कार्य शुरू किया। वे कहते हैं कपास हमारे यहां की नकद फसल (केशक्रॉप) है। किसानों को जैविक कपास या देशी कपास की याद आने लगी। तब तक इसके बीज दुर्लभ होने लगे थे। किसान कपास के स्थान पर गेहूं लगाने लगे थे इससे उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार होना रुक-सा गया था। ऐसा करीब 7-8 वर्षों तक चला। सन् 2016-17 में किसानों में नई चेतना का संचार हुआ। उन्होंने बीटी कपास के दुष्परिणामों पर व्यापक विमर्श व बहस की। इसके बाद समिति ने बायो–रे से संपर्क किया और परिस्थितियां बदलीं। शुरूआत करीब 40-50 एकड़ से हुई थी। अब 2400 एकड़ क्षेत्र में जैविक कपास होता है। 90 गावों में समिति का कार्य है और पिछले साल 3 करोड़ रु. से ज्यादा का लेन-देन समिति के माध्यम से हुआ था। यह पिछले वर्षों के मुकाबले में थोड़ा कम था और इसकी वजह थी बहुत ज्यादा बारिश। समिति अब जैविक खेती को विस्तार देने के साथ ही साथ इसे अन्य अंचलों में विकसित करने में भी मदद कर रही है। इसके कार्यकर्ता तमाम जगहों पर जाकर किसानों से संपर्क कर रहे हैं। वे चाहते हैं कि किसान इतने सक्षम हो जाएं कि भविष्य में उन्हें कॉन्ट्रेक्ट फार्मिंग के भरोसे भी न रहना पड़े और वे अपनी मनमर्जी से खेती कर सकें और अपने उत्पाद खुले बाजार में बेच पाएं। साथ ही ऐसे उत्पादों की एक पृथक मंडी भी स्थापित हो।

निष्कर्ष

गांधीजी कहते है,'रोटी के लिए हर एक मनुष्य को श्रम करना चाहिए, शरीर (कमर को) को झुकाना चाहिए, यह ईश्वर का कानून है। यह मूल खोज टॉलस्टाय की नहीं है, लेकिन उनसे बहुत कम प्रसिद्ध रूसी लेखक टी.एम. बोन्द्रेव्ह की है। टॉलस्टाय ने इसका प्रचार-प्रसार किया और उसे अपनाया। इसकी झांकी मेरी आंखें भगवत गीता के तीसरे अध्याय में करती है। यज्ञ किए बिना जो खाता है, वह चोरी का अन्न खाता है, ऐसा कठिन शाप यज्ञ नहीं करने वालों को गीता में दिया है। यहां यज्ञ का अर्थ शरीर श्रम या रोटी -मजदूरी ही उचित हो सकता है।'

आदर्श सेंद्रीय कृषि बहुउद्देशीय संस्था से बातचीत से यह स्पष्ट होता है कि कृषि को लेकर हम एक विचित्र से संधिकाल में रह रहे हैं। जैविक खेती की वापसी के पीछे बड़ा कारण, खासकर नकदी फसलों के संदर्भ में,बिक्री को लेकर है, परंतु वहीं दूसरी ओर समिति की सोच में धीरे-धीरे परिवर्तन आ रहा है और अब वे किसानों को आर्थिक लालच से बाहर लाने हेतु प्रयासरत हैं। यह एक वंदनीय कदम भी कहलाएगा, क्योंकि समिति ने अपनी प्रारंभिक भूल, जो कि अनायास ही हुई थी, को स्वीकारा है। भूल स्वीकारने से ही उसका समाधान भी निकल सकता है। धुले जिले का अधिकांश हिस्सा कम पानी वाला है और वहां की करीब 75 प्रतिशत खेती वर्षा आधारित ही है। वर्मी कंपोस्ट का चलन भी यहां बढ़ा है। समिति की वजह से मिट्टी की गिरती गुणवत्ता व उर्वरता को लेकर भी जागरूकता में वृद्धि दर्ज हुई है। साथ ही एकल फसलों के प्रति मोह भी कम हुआ है। इस लिहाज से समिति की संप्रेषणीयता बेहद प्रभावशाली है। कृषि भूमि के उपयोग को लेकर भी काफी जागरूकता बढ़ती जा रही है। धुले जिले में आज खाद्यान्न, मोटा अनाज, दालों, दलहनें, सब्जियां (प्याज सहित) बागवानी, फल, जैसे फसलों की इंटरक्रॉपिंग की शुरूआत बेहद शुभ संकेत है। गन्ने के साथ मूंगफली भी लगाई जा रही है। देशी बीजों का प्रबंधन व संकलन हो रहा है, परंतु रासायनिक खादों/कीटनाशकों के उपभोग में उल्लेखनीय कमी नहीं आ पा रही है। यह बेहद चिंता का विषय है। साथ ही इस जिले में बड़ी संख्या में पेड़ों व वनों का विनाश हुआ है। कपास के पौधों पर चिड़ियाओं का घोसला बनाना एक हृदयविदारक प्रतीक ही तो है।

जाहिर है जैविक खेती को एक समाधान के तौर पर देखा जा रहा है, परंतु यह एकमात्र उपाय नहीं हो सकता, कृषि सुधार हेतु। किसानों की ऋणग्रस्तता की समस्या भी यहां विकराल रूप लेती जा रही है। समिति ने इस दिशा में भी सराहनीय कार्य किया है। सवाल है कपास व गन्ने पर निर्भरता को कम करना, परंतु कपास ने जैविक खेती को नई दिशा दी है और आर्थिक रूप से सक्षम भी बनाया है। बहरहाल यह एक लंबा संघर्ष है और इसमें कमजोर को ताकतवर से लड़ना है। ऐसे में जीत का एकमात्र साधन है सत्यता। साथ ही पूरी ईमानदारी से खेती के प्रयोग करते रहना आवश्यक है। समिति ने एक अच्छी शुरूआत धुले के किसानों को दी है। आज 2000 से ज्यादा परिवार समिति की बात सुनते हैं और उसमें हिस्सेदारी भी करते हैं। जैविक खेती एक श्रमसाध्य उद्यम है। यह किसान से उसका सौ प्रतिशत मांगती है। खेती में बढ़ रहे मशीनीकरण के विकल्प को सुझाती है। उम्मीद है अंततः भारतीय कृषि अपना मूल गौरव प्राप्त कर पाएगी।

गांधीजी ने कहा भी है- 'बुद्धिपूर्वक किया हुआ शरीर श्रम समाजसेवा का सर्वोत्कृष्ट रूप है।' जैविक खेती भी तो यही सिखाती है।

कन्हैयालाल पालुर ग्राम विकास संस्था

हम नहीं जानते जैविक खेती कर रहे

महाराष्ट्र का आमली ग्राम वास्तव में संस्कृति, परंपरा, रीति रिवाज और बंधुता की निरंतरता का अप्रतिम प्रतीक है। इक्कीसवी शताब्दी के विश्व में यह गांव जिस तरह से आत्मनिर्भरता को अंगीकार कर चुका है, वह वास्तव में अचंभित करता है। जैविक खेती की सीमा का अतिक्रमण कर जैविक जीवन जीने वाला यह गांव उसी तरह से गतिमान है, जिसकी हम अभी तो सिर्फ कल्पना ही कर पाते हैं।

यह गांव नवीनता और नवाचार को अपने नजरिये से अपनाता है और भारतीय संविधान का विस्तार से अध्ययन यहां भले ही नहीं हुआ हो, परंतु हम यहां भारतीय संविधान की उद्देशिका को चरितार्थ होते देख सकते हैं।

एक भीली कहानी है, नरसिंह पातला की। इस कथा गायन को शुरू करने से पहले तमाम निमंत्रण प्रेषित किए जाते हैं कि वे आएं और इस कथा को सुनें। कुछ निमंत्रित गण हैं-

प्रथम निमंत्रण धरती माता

धरती माता पर होते हैं झाड़ पेड़,

प्रथम निमंत्रण हवा - पवन,

प्रथम निमंत्रण कुंआँ बावड़ी रे

प्रथम निमंत्रण रे आसमान और बादल रे

प्रथम निमंत्रण चांद ने सूरज रे

प्रथम निमंत्रण दिन - दिवस नाव रे

प्रथम निमंत्रण तारा ने तारो नाव ने

प्रथम निमंत्रण पुच्छेल तारो नाव रे

प्रथम निमंत्रण ध्रुव तारो नाव रे।

मेहमानों की फेहरिस्त बहुत लंबी है। पर सबको बुलाया जाता है। सबको साक्षी बनाया जाता है और उन्हें साक्षी मानकर कथावाचन शुरू किया जाता है, परंतु गौर करने वाली बात यह है कि प्रथम निमंत्रण में भी सबसे पहला निमंत्रण 'धरती माता' को दिया जाता है। इससे पता चलता है भील या आदिवासी समुदायों का जमीन के प्रति प्रेम व आदर!

धुले जिले के एकदम सिरे पर स्थित है ग्राम आमली। यह आदिवासीबहुल जिला है और पांचवीं अनुसूची में आता है तथा यहां पेसा कानून भी न केवल लागू है, बल्कि स्थानीय आदिवासी समुदाय इसका पालन करवाना भी जानता है। यह एक पहाड़ी इलाका है। इसे यूं याद रख सकते हैं, ग्राम- आमली, पोस्ट धनेर, तहसील- साक्री, जिला- धुले- राज्य महाराष्ट्र। यहीं पर स्थित है कन्हैयालाल पालुर ग्राम विकास संस्था। यह संस्था सन् 2009 में स्थापित हुई थी। इसी के साथ जुड़ी संस्था, 'कन्हैयालाल, फार्मस प्रोड्यूसर कंपनी, आमली। संस्था में यूं तो 1500 सदस्य है। वैसे तो सभी सदस्य रासायनिक खेती से कमोवेश परहेज करते हैं, लेकिन 350 किसान पूरी तरह से जैविक (ऑर्गेनिक) खेती को समर्पित हैं। गौरतलब है, इस संस्था के सभी 100 प्रतिशत सदस्य आदिवासी समुदाय के ही हैं। संस्था के अध्यक्ष हैं श्री भीमराव बारको बोरते। इन्हें जैविक खेती को लेकर महाराष्ट्र सरकार का, महाराष्ट्र कृषि भूषण पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है। इनके साथ कार्यरत हैं इनकी पत्नी लताबाई भीमराव बोरसे। इस ग्राम की सरपंच हैं कु. हीना बोरसे।

संस्था के नाम को लेकर जिज्ञासा भी थी, क्योंकि आदिवासी समुदाय में इस तरह के नाम नहीं होते। चर्चा में सामने आया कि गांव के नजदीक कन्हैयालाल महाराज का बड़ा मंदिर है। मूलतः इस मंदिर में विष्णु भगवान की शेषनाग पर लेटी हुई निद्रामग्न मूर्ति है और समुद्र मंथन का चित्रण भी है। स्थानीय समुदाय इन्हें कन्हैयालाल महाराज पुकारता है। शिवरात्रि पर यहां मेला लगता है और लाखों लोग, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र व गुजरात से आते हैं। इस तरह आदिवासियों ने एक नागरी पारंपरिक देव को भी अपने संस्कारों में शामिल कर लिया है।

कन्हैयालाल ग्राम विकास संस्था के सदस्यों के साथ बातचीत और उनके काम को समझना एक बेहद सुखकर अनुभव था। काफी समय पश्चात आमली के रूप में एक ऐसा गांव सामने आया जो पांचवीं अनुसूची के अंतर्गत अपने विशेषाधिकार जानता है। पेसा को समझता है और उससे लाभान्वित भी है तथा उनमें यह गर्व पूरी तरह से समाहित है कि 'हमारा गांव हमारा राज' और वे उस पर न केवल पूरी तरह से अमल करते हैं, बल्कि प्रशासन को इस हेतु सचेत भी किए रहते हैं। श्री भीमराव व साथियों से बातचीत बेहद अनौपचारिक ही रही और अनेक मुद्दे लगातार बीच बीच में आते रहे। खेती, जीवन, संघर्ष, मौसम, देवी-देवता, सामाजिक जीवन, सामाजिक सरोकार, यहां कुछ भी एक-दूसरे से अलग नहीं है। चर्चा बहुत सिलसिलेवार भले ही न लगे, परंतु यह बेहद सारगर्भित जरूर है।

परिवार
सुकदेव

आमली के आसपास का पूरा इलाका पहाड़ी है। संस्था के सदस्य 40 गावों/फालियों/फड़ों में फैले हुए हैं। चना, गेहूं, छोटी मटर, नाचनी (रागी) लाल चावल व काला चावल इस इलाके की मुख्य फसलें हैं। साथ ही मक्का व ज्वार भी होती है। कुछ हिस्सों में स्वयं के उपयोग के लिए सब्जी-भाजी भी लगाई जाती है। श्री भीमराव का कहना था कि सभी उपजों के बीज, घर के ही, यानी स्थानीय ही हैं। काला चावल एक अपवाद है और पिछले दो वर्षों से इसे यहां लगाने का प्रयास कर रहे हैं। गौरतलब है, हमने धूलिया के बारे में जितना पढ़ा, सुना और देखा था, उससे जाहिर था कि यह अंचल मूलतः सूखी खेती का है और यहां की 80 प्रतिशत खेती वर्षा आधारित है। यह बेहद गर्म क्षेत्र भी है, परंतु आमली क्षेत्र एक अविस्मरणीय अपवाद है। इस पहाड़ी क्षेत्र में अत्यधिक बारिश होती है, इसलिए यहां पर बड़ी मात्रा में चावल का उत्पादन होता है। यहां स्थानीय वर्षा भी होती है। हम लोग जिस दिन पहुंचे उसके एक दिन पूर्व ही वहां अच्छी बारिश हुई थी, जबकि 30 कि.मी. दूर से सब कुछ सूखा ही था। यहां पर रागी (नाचनी) पूरी तरह से पारंपरिक बीजों के माध्यम से होती है। रागी की यहां चार किस्में हैं। इनके कोई अलग-अलग नाम तो नहीं हैं, परंतु कितने दिनों में विशिष्ट बीजों से फसल आती है, उसके हिसाब से और इनमें आने वाले फूलों, जैसे- हल्की या वाड़ी के नाम से इन्हें जाना जाता है। भीमराव बोरसे बड़ी सहजता से बताते हैं कि सरकार हमें थाणे के पालघर के जवाहर कृषि केंद्र में जैविक खेती के प्रशिक्षण के लिए ले गई। हम लोग भी कुतूहलवश कि जैविक खेती कैसी होती है और कैसे की जाती है, जानने के साथ ही साथ घूमने के लिए सरकारी अधिकारियों के साथ प्रशिक्षण लेने चले गए। वहां पहुंचे तो हमने पाया कि हम तो शुरूआत से अब तक इसी तरह की खेती करते हैं, और इसे ही सेंद्रीय या जैविक खेती कहते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि तब तक हमें पता ही नहीं था कि रासायनिक खेती जैसी भी कोई चीज होती है। हमें कभी रसायनों की जरूरत पड़ी ही नहीं। हां, प्रशिक्षण से इतना जरूर पता लगा कि बाहरी दुनिया में किस फसल की ज्यादा मांग है। साथ ही उत्पादन बढ़ाने में तो हमारी मदद हुई ही है। इसके बाद हमने अपने गांव में सबको प्रशिक्षण दिया।

वहां से लौटने के बाद हम लोग व्यवस्थित तौर पर व लाइन बनाकर खेती करने लगे। हमारा पारंपरिक ज्ञान अधिक व्यवस्थित हो गया था। साथ ही हमें अपनी चीज, यानी उपज की वास्तविक कीमत भी मालूम पड़ गई थी। इससे हमारा शोषण भी रुका। अभी करीब 4000 एकड़ में पूरी तरह से जैविक खेती ही होती है। कहीं-कहीं पर विदेशी बीज भी आने लगे हैं। हम उसे जैविक नहीं मानते, जबकि उसमें भी रासायनिक पदार्थों का प्रयोग नहीं होता। हां, रागी और चावल पूरी तरह से जैविक ही हैं। हमारे पूरे इलाके में बड़ी मात्रा, यानी 7-8 हजार क्विंटल रागी होती है। हम किसी भी फसल पर कोई-सा भी कीटनाशक नहीं डालते। बिल्कुल भी छिड़काव नहीं करते। इस पर उनका कहना था कि हमारे यहां की मिट्टी में लगातार नमी बनी रहती है। साथ ही पानी भी लगातार बरसता रहता है, इसलिए कोई-सा भी छिड़काव टिक ही नहीं पाता।

उनका कहना है कि हमारे यहां की जलवायु ही ऐसी है, जो कि रासायनिक कृषि के अनुकूल नहीं है। इसी कारण हमारे लिए प्रमाणीकरण सर्टिफिकेशन भी आसानी से हो गया। वैसे संस्था ने गांवों में जीवामृत बनाने के लिए अपने 500 सदस्यों को 2-2 ड्रम दिए। यानी कुल 100 ड्रम वितरित किए जीवामृत बनाने के लिए। इसके अलावा 2 किलो बेसन व 2 किलो गुड़ भी दिया। इससे जीवामृत बना और खेतों में डाला गया।

इसके अलावा 5-9 कल्चर जैविक खाद भी वितरित की गई। वैसे हमारा अधिकाधिक जोर गोबर व खेत की बची हुई फसल से बनी कंपोस्ट पर ही रहता है।

जितनी भी उपज होती है, उसे पहले सब अपने घर लाते हैं और उसके बाद साफ करके समिति के कार्यालय में लाते हैं। यहां पर पहले उसकी ग्रेडिंग होती है और उसके बाद 5-5 किलो की पैकिंग चावल आदि की होती है। कई फसलों की छोटी भी, यानी 1-2 किलो की पैकिंग भी होती है। बिक्री के लिए हम या तो किसान मेलों में जाते हैं या हमारे पास पहले से ही ऑर्डर बुक रहते हैं। हमारी उपज पूरे महाराष्ट्र के अलावा गुजरात व बैंगलोर (कर्नाटक) में जाती हैं। अब हमें पहले से ज्यादा मुनाफा मिल जाता है। हम और हमारे किसान बहुत खुश हैं। संस्था किसी तरह का लाभ नहीं कमाती। वह अपने सदस्यों से सिर्फ खर्च ही लेती है। वे बताते हैं कि सन् 2004 से 2009 तक उनकी पत्नी सरपंच रही थीं। तब हम सबमें आपसी मेलजोल अधिक बढ़ा और सब लोग अपने आप इकट्ठा होने लगे। इसके बाद हम लोग संस्था बायप मिश्र के साथ गुजरात व महाराष्ट्र के विभिन्न अंचलों में जैविक खेती में काम कर रही संस्थाओं के कार्य और बिक्री के तरीकों को जानने के लिए खूब घूमे। तब हम सबने मिलकर तय किया कि हम सबको भी इसी तरह से आगे काम करना है। हमारे यहां यदि किसी को दिक्कत आती है, तो हम लोग उसकी आर्थिक मदद भी करते हैं।

आमली गांव में सामूहिकता की शानदार परंपरा अभी भी जारी है। यहां खेती के लिए स्थानीय भाषा में इसे 'पढ़जी' पद्धति कहते हैं, अभी भी प्रचलन में है। इसे महाराष्ट्र में गट (समूह) खेती या गटशेती कहा जाता है। मध्यप्रदेश के धार, झाबुआ व अलीराजपुर में इसे 'लाह' कहते हैं। इसके अंतर्गत खेती में सामूहिक श्रम किया जाता है। इस श्रम के बदले किसी भी तरह का कोई भुगतान नहीं किया जाता है। संस्था के सभी सदस्य व गांव के सभी निवासी एक-दूसरे के खेत में जाकर काम करते हैं और हाथ बंटाते हैं। इस गांव में कोई भी मजदूर नहीं है। सरपंच भी सभी के खेतों में जाकर काम करते/करती हैं। इससे खेती की लागत में कमी आती है और आपसी भाईचारा भी बना रहता है। जाहिर यह अपने आप में इतनी विशिष्ट व महत्वपूर्ण कृषि उत्पादन प्रणाली

है, जिसकी वजह से किसी पर भी कोई अतिरिक्त बोझ नहीं पड़ता। इस गांव की एक और खासियत है कि यहां से मौसमी पलायन भी न के बराबर है।

पूरे क्षेत्र का मौसम इतना अच्छा है कि इस गांव के घरों में न तो पंखे हैं और न ही फ्रिज। पूरा का पूरा भोजन जैविक होने की वजह से वस्तुएं जल्दी खराब भी नहीं होतीं। यहां पर गुड़ (जैविक) और बीजों को रागी में दबा करके रखते हैं। इससे इनमें खराबी नहीं आती। भीमरावजी ने हमें पांच वर्ष पुराना गुड़ व रागी की रोटी खिलाई। उनका कहना है कि पांच साल पुराना गुड़ डाइबिटीज में दवाई का काम करता है। उन्हें डाइबिटीज हो जाने के बाद उन्होंने इसे नियमित खाया, तो अब वे इस बीमारी से निजात पा गए हैं।

आमली गांव में केवल आदिवासी ही निवास करते हैं। इनमें भी भील आदिवासियों की संख्या सबसे ज्यादा है। इसके अलावा दो अन्य आदिवासी समुदाय हैं, कोंकणी और मावची। पहले यहां पर शिक्षा नहीं थी, परंतु अब शिक्षा पर भी जोर है। यहां नजदीक से ही नागपुर - सूरत राजमार्ग गुजरता है। अगले ही क्षण वे बोले पूरे इलाके में रहने वालों का स्वास्थ्य बहुत ही अच्छा है। हमारे यहां लोग कम ही बीमार पड़ते हैं। कोरोना का भी यहां कोई प्रभाव नहीं हुआ था। इसकी उन्होंने बहुत ही मजेदार प्रिवेंटिव दवाई बताई। वे बोले हमने महुआ के फूल की दारू बनाई और उसे अधिक नमक डले चने के साथ पिया। पेट में जाकर चना फूलता है, इससे खांसी नहीं आती। वे बोले यह दवाई आदिवासियों ने स्वयं ही ईजाद की है। है न मजेदार?

बात ने फिर मोड़ लिया। भीमराव बोले हम अपने सदस्यों को नकद भुगतान ही करते हैं। यह पूछने पर कि सरकार तो नकद भुगतान को रोकती है, तो उन्होंने बेहद विश्वास के साथ जवाब दिया,हम यहां किसी की नहीं सुनते। कोई यहां हम पर हुकुम नहीं चला सकता। यहां पेसा लागू है। किसी भी विभाग का कोई अधिकारी हमारी अनुमति के बिना यहां नहीं आ सकता। यहां हमारा ही राज चलता है। यहां कोई आकर जमीन नहीं खरीद सकता।इतना ही नहीं आदिवासियों के अलग-अलग समुदाय भी एक-दूसरे की जमीन नहीं खरीद सकते। यानी भील समाज भले ही अधिक संख्या में हो पर वह कोंकणी या मावची आदिवासी समाज के सदस्यों की जमीन नहीं खरीद सकता। इस वजह से जमीनों के भाव बहुत कम हैं और इसी वजह से खरीदी - बिक्री भी नहीं होती, क्योंकि इसके बेचने से कोई बड़ा काम नहीं हो सकता। उन्होंने बताया कि संस्था का बैंक खाता देवेल व पिपलिया में है।

वे बताते हैं कि हम लोग ज्यादा सब्जी नहीं लगाते। घर के लिए मिर्ची, टमाटर, भिंडी, मेथी व गोभी लगाते हैं। ज्यादातर खेती हल-बैल से ही होती है। इसकी एक वजह यह भी है कि अधिक वर्षा होने की वजह से ट्रैक्टर चल ही नहीं पाता। वैसे समाज में जो लड़के पढ़ लिख गए हैं, उन्होंने बैंक से ऋण लेकर ट्रैक्टर खरीद लिया है। अब वे इसे किराये पर चलाते हैं। वैसे भीमराव की बेटी व वर्तमान सरपंच हीना बोरसे, गांव में ट्रैक्टर चलाने वाली पहली लड़की हैं।

आमली में सारे विवादों का निपटारा पंचायत के माध्यम से ही होता है। पिछले 10 वर्षों में इक्का - दुक्का मामले ही पुलिस को गए हैं। पंचायत में सुनवाई कर, सुलह सफाई कर दोनों के हाथों में शक्कर रख देते हैं और मामला खत्म हो जाता है। यहां दहेज लड़की को मिलता है, परंतु यह एकतरफा नहीं है। जितना मिलता है, वह मुर्गा, दारू व बकरे में खर्च हो जाता है। खैर !

अंत में वे अपने आध्यात्मिक पक्ष की ओर अग्रसर हुए। यह पक्ष भी बेहद मजेदार है। वे बोले हम गणपति को मानते हैं, परंतु वे शाकाहारी हैं, इसलिए उनकी पूजा व प्रसादी उसी प्रकार से करते हैं। गणपति के भाई कार्तिकेय मांसाहारी हैं, इसलिए उन्हें बकरा

चढ़ाते हैं। वे कहते हैं शंकर और पार्वती तो भील समाज के ही हैं। दशहरे की रात को रावण को बकरा चढ़ाते हैं। पहले पाड़ा (भैंसा) चढ़ाते थे। रावण को पितर - पूर्वज मानते हैं और उन्हें तर्पण करते हैं। वे कहते हैं रावण तो आदिवासी है, हम रावण का दहन नहीं करते। हम राम को नहीं मानते। हम तो रावण को पूजते हैं। देवमोगरा हमारी मुख्य आराध्य देवी हैं। हम और बहुत से परिवार अब मांसाहारी नहीं हैं, लेकिन हम वहां उनके मंदिर में बकरा चढ़ाकर जरूर आते हैं। कार्तिकेय को हम डोंगरिया देव कहते हैं। उनकी बड़ी पूजा करते हैं। फसल आने के बाद केसरा माता को पहला अनाज चढ़ाते हैं। उसके बाद बैल व गाय को खिलाते हैं। इसके बाद ही स्वयं खाते हैं। हम वाग (बाघ), सांप, चंद्रमा, सूर्य को पूजते हैं। इसके अलावा हम नदी, जंगल, गंगा व नर्मदा का पूजन भी करते हैं। सारा गांव वाग्देव का थाना (मंदिर) में एकसाथ जाता है और वहां पुजारी को मुर्गा, बकरा व महुआ की शराब देता है। इससे हमको सालभर बीमारी नहीं लगती। आमली गांव की यात्रा इसी बात पर आकर समाप्त हुई। शाम हो रही थी। धुले तक का सफर 100 किलोमीटर से भी ज्यादा का था। ठंडी हवा की बयार से गर्मी के गर्म थपेड़ों की ओर लौटना ही हमारी नियति थी। यहां के निवासियों से जलन के अलावा और क्या हो सकता है?

निष्कर्ष

कन्हैयालाल ग्राम विकास संस्था, आमली के सदस्यों से बातचीत करके बहुत महत्वपूर्ण बातें सामने आती हैं। सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि आदिवासी समुदायों का एक वर्ग अभी भी बेहद सकारात्मक जीवन जी रहा है और यह अपने आप में बेहद महत्पवूर्ण है। यहां आकर यह भी समझ में आया कि अत्यधिक तर्कवादी होना एक अर्थ में फिजूल-सा है। सोचिए, राम को न मानने वाले विष्णु को कन्हैयालाल महाराज के रूप में पूज रहे हैं। वे गणेश को अलग नजरिए से देख रहे हैं, कार्तिकेय को एकदम अलग नजरिए से। वे प्रकृति से इतना एकाकार हैं कि कुछ और या उनके अपने रहवास से बाहर क्या हो रहा है, वह उन्हें ज्यादा मालूम नहीं, परंतु वे भारतीय संविधान की मूलधारा और उन्हें प्रदत्त अधिकारों को लेकर बेहद जागरूक है और साफ कह रहे हैं कि यहां तो हमारा राज ही चलेगा। यह दंभ नहीं उनका स्वयं पर विश्वास है। वे इस आधुनिक युग में एक परिपूर्ण जीवन जी रहे हैं। वे बाजार में सीधे फसलें बेच रहे हैं और लाभ कमा रहे हैं, लेकिन अपने गांव में सामूहिक श्रम कर रहे हैं। वे एक ऐसे समाज के सदस्य हैं, जिसमें कोई मजदूर नहीं है, सब साथी हैं। इससे ज्यादा सामजिक आदर्श की कल्पना आधुनिक युग में कर पाना कमोवेश असंभव-सा है।

आवश्यकता इस बात की है कि इस स्वस्थ जीवनशैली को कैसे बचाए रखा जाए। क्या वर्तमान शिक्षा प्रणाली इसे अधिक समय तक इस अवस्था में बने रहने देगी? परंतु समय रहते इसका दस्तावेजीकरण और भी विस्तार से किए जाने की आवश्यकता है। बहरहाल यह पूरा समाज वास्तव में वह सब संप्रेषित कर रहा है, जिसकी आज सबसे ज्यादा जरूरत है और वह है आपसी भाईचारा। यहां सिर्फ खेती ही नहीं वास्तविक तौर पर सारा समाज जैविक ही है। यही तो प्रकृति व मनुष्य का तालमेल है, सामंजस्य है।

तो देवताओं को निमंत्रण भेज दिया गया। कहानी आगे बढ़ी। नरसिंह के विवाह का दिन निश्चित हुआ, तो निमंत्रण देना है। चार पल्लों में चावल बांधकर अच्छे घोड़े पर बैठकर सवार पूर्व, पश्चिम, उत्तर व दक्षिण दिशा में निमंत्रण देने चल पड़े

रे पहला निमंत्रण गौरी के गणेश के घर

रे दूसरा निमंत्रण धरती माता के घर रे

रे तीसरा निमंत्रण जंगल बाबा के घर रे

रे चौथा निमंत्रण हवा पवन के घर रे

रे पांचवां निमंत्रण चांद सूरज के घर रे

वे यहीं नहीं रुकते। वे चारों दिशाओं को निमंत्रण दे रहे हैं। वे नदी, नाले, झाड़, पेड़ को ही नहीं डाकना - भूत को भी निमंत्रित कर रहे हैं। वे मुहाइया (स्वर्गवासियों) को भी निमंत्रण दे रहे हैं और अंत में

रे निमंत्रण भूल - चूक में रहने वालों को दिए रे।

आज भी ऐसे समुदाय मौजूद हैं, जो भूत - डाकना को विवाह में निमंत्रित कर रहे हैं। हम जैसे भूले - बिसरों को भी निमंत्रित कर रहे हैं।

आमली यात्रा की सुखद स्मृतियां अमिट ही रहेंगी।

पानी फाउंडेशन

सूखे गांव जो पानीदार हो गए

महाराष्ट्र का विदर्भ क्षेत्र हमेशा से जलसंकट से घिरा रहा है। वस्तुतः यह क्षेत्र पशुपालन के लिए अनुकूल था, लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में यहां बड़े पैमाने पर कपास की खेती की शुरूआत की गई। धीमे-धीमे यहां कृषि पर निर्भरता बढ़ती गई और पानी की आवश्यकता में भी वृद्धि होती गई। फलस्वरूप यहां पानी का स्थायी संकट रहने लगा। पानी फाउंडेशन द्वारा की गई पहल से इस अंचल के कई गांवों में पानी सहेजने को लेकर जागरूकता में वृद्धि हुई है और इसके सकारात्मक परिणाम सामने भी आने लगे हैं। अब वर्ष में 10 महीने इन गांवों में पानी उपलब्ध रहता है।

महाराष्ट्र राज्य के विदर्भ अंचल में अमरावती जिला स्थित है। यह इलाका वर्षों से सूखे की मार झेल रहा है। गर्मी के मौसम के दौरान यहां पानी का संकट बहुत बढ़ जाता है। इस क्षेत्र में बारिश कम और अनियमित होती है। प्रत्येक चार-पांच साल के अंतराल में सूखे की स्थिति बन जाती है। किसानों की खुदकुशी की खबरों को लेकर भी यह अंचल चर्चा में बना रहता है। यहां मनुष्यों के लिए पेयजल और खेती में सिंचाई का संकट एवं पशुओं के लिए चारे का संकट, बढ़ती कर्जग्रस्तता के समाचार मिलते रहे हैं। इस सबके मद्देनजर इस इलाके के गांवों के लोगों ने पानी बचाने व उसे सहेजने की राह पकड़ी है।

सतपुड़ा की गोद में बसा है गव्हाणकुंड

अमरावती जिले की वरुड तालुका का एक गांव है गव्हाणकुंड। गव्हाण, यानी गायों को चारा डालने का स्थल। यहां गायें चरने के लिए इकट्ठी होती थीं और यहीं सूखी नदी का कुंड है। इसलिए इसका गव्हाणकुंड नाम पड़ा। यह गांव सतपुड़ा पहाड़ की तलहटी में बसा है। सतपुड़ा पर्वतमाला, मध्यप्रदेश के पूर्वी छोर से महाराष्ट्र में पश्चिम तक जाती है। वैसे तो यह एक सामान्य गांव है, लेकिन अपने पानी सहेजने के काम ने इसे खास बना दिया है। अब इस काम को देखने के लिए यहां लोगों का तांता लगा रहता है।

स्पर्धा से शुरू हुई पहल

पानी फाउंडेशन ने सत्यमेव जयते वाटर कप स्पर्धा शुरू की थी। इस फाउंडेशन के संस्थापकों में सिने सितारा आमिर खान व उनकी पूर्व पत्नी किरण राव शामिल हैं। महाराष्ट्र में सूखे की स्थिति से चिंतित होकर इन्होंने पानी सहेजने को प्राथमिकता दी। इस स्पर्धा के तहत 45 दिन में जल संवर्धन व प्रबंधन का काम करना था, जो भी गांव पानी सहेजने का अच्छा काम करेंगे, उन्हें पुरस्कार मिलेगा।

गव्हाणकुंड के उपसरपंच प्रदीप संतोषराव मुरमकर ने बताया कि यहां सालाना वर्षा करीब 700-800 मिलीमीटर होती है। वह भी कभी कम, कभी ज्यादा। स्थानीय बोरवेल, जिनमें पहले 200 फीट पर पानी निकल आता था, अब उनका भूजल स्तर 1200 से 1500 फीट तक नीचे पहुंच गया है। वे आगे बताते हैं कि वर्ष 2018 में बहुत ही कम बारिश हुई और बांध सूखने लगा। स्थानीय कुएं सूख गए और बोरवेल का पानी बहुत नीचे चला गया। गांव में पानी की दो टंकियां हैं, जिनसे पीने के पानी की आपूर्ति होती थी, लेकिन वे भी खाली हो जाती थीं। इसे पूरे क्षेत्र को भूजल सर्वेक्षण और विकास एजेंसी (GSDA) ने 'डार्क जोन' घोषित किया है। यहां नए कुएं और बोरवेल की खुदाई पर रोक है।

पंचायत द्वारा निजी कुओं का अधिग्रहण

अमरावती जिले के रवाला गांव के किसान व सामाजिक कार्यकर्ता चिन्मय फुटाणे बताते हैं कि जब पानी फाउंडेशन के काम की शुरूआत हुई, तब वरुड तालुका के साथ दो और तालुका कोरेगांव व अंबेजुगाई शामिल थीं, जिनका चयन पानी सहेजने के लिए किया गया। इन दोनों में भी पानी का विकट संकट था। तकरीबन आधे कोरेगांव में पेयजल की आपूर्ति टैंकर से होती थी। अंबेजुगाई में तो तीन-चौथाई पूर्ति टैंकर से होती है। जबकि वरुड में टैंकर से पानी की आपूर्ति जैसी स्थिति नहीं थी, पर संकट तो था ही।

स्थानीय युवा किसान व सामाजिक कार्यकर्ता सुमित गोरले ने बताया कि जब पानी का संकट गहरा जाता था, तो ग्राम पंचायत किसानों के निजी कुओं का अधिग्रहण कर लेती थी और पानी की आपूर्ति करती थी। अभी हमने इस गांव में पानी के काम को नए सिरे से किए जाने का अवलोकन किया। इस दौरान गांव की बबीता गाडलिंग, पुष्पा नागले, अक्षय सरेआम से मुलाकात हुई। जहां से हम उस स्थान पर सतपुड़ा पर्वत की तलहटी में गए, जहां उन्होंने पहाड़ से सरपट दौड़ने वाले बारिश के पानी को शृंखलाबद्ध बांध बनाकर रोका था। इसके लिए उन्होंने ट्रेंच (नाली) खोदी, मिट्टी, पत्थर और गेबियन (पत्थरों को जाली में बांधकर) बांध बनाए।

पांच लोगों से शुरू हुआ काम

गव्हाणकुंड गांव की बबीता गाडलिंग और पुष्पा नागले ने बताया कि हम इसके पहले कामकाज के लिए घर से बाहर नहीं निकले थे। जब स्पर्धा में हमारा गांव शामिल हो गया और पानी को सहेजने की जिम्मेदारी आई, तो सबसे पहले हम 5 लोग हिवरे बाजार (अहमदनगर जिला) गए, जहां हमने जलसंवर्धन व प्रबंधन का प्रशिक्षण लिया। इस समूह में सुमित गोरले, मनीष कावड़े, किशोर गाडवेल, पुष्पा नागले, बबीता गाडलिंग शामिल थे। वे आगे बताती हैं कि वहां से लौटकर हमने मोहल्ले-मोहल्ले में सभाएं कीं, नुक्कड़ नाटक किए और रैलियां कीं। स्ट्रा गेम के माध्यम से पानी की स्थिति को समझाया। इस गेम को देखने के बाद तेजी से भूजल उलीचने का प्रभाव क्या पड़ता है, यह समझ में आता है और उससे गांव के लोगों की आंखें खुल जाती हैं कि भूजल कैसे धीरे-धीरे घटता जाता है।

उन्होंने बताया कि इस गेम में एक पतीले में पानी भरा जाता है और तीन पीढ़ी के लोग इससे पानी खींचते हैं। पीढ़ियों के लोगों में क्रमशः स्ट्रा की संख्या बढ़ती जाती है, जिससे पानी कम होते जाता है, अंत में बहुत थोड़ा ही पानी बचता है। इस तरह पानी सहेजने के काम की जरूरत महसूस होती है और गांव के लोग इस काम से जुड़ जाते हैं। वे पानी से धरती का पेट भरने के काम में मदद करने आगे आते हैं।

वे बताती हैं कि हमने अपने गांव में आकर पानी का काम तो किया ही, इसके अलावा अन्य तालुकाओं में भी प्रशिक्षण दिया। यह तालुकाएं थीं- देवड़ी (वर्धा जिला), मोरसी (अमरावती जिला) और चीखलदरा (अमरावती जिला)।

श्रमदान से पानी को रोका

युवा किसान व शिक्षक रहे सुमित गोरले बताते हैं कि सबसे पहले हमने पूरे इलाके का सर्वे किया। बांध बनाने और नाली खोदने के लिए उन ढलानों को चिह्नित किया, जहां बारिश के पानी को रोकने के लिए ढांचे बनाएं जाने थे। इसके बाद वहां बांध बनाना शुरू किया। सबसे पहले पत्थर इकट्ठे किए, मिट्टी खोदी, और बांध बनाए। इस काम में स्कूली बच्चे, महिला, पुरुष सब जुड़े। बाद में पंचायत के प्रतिनिधि, शासकीय अधिकारी और कलेक्टर सबने आकर श्रमदान किया। यह पूरा जन-आंदोलन बन गया। बांध स्थल पर मेले जैसा माहौल बन गया। वे आगे बताते हैं कि कोविड-19 की महामारी के समय भी यह काम जारी रहा। इस दौरान हमने धीरे-धीरे 5-5 लोगों के समूह बनाकर काम किया। कभी गड्ढे खोदे, कभी बांधों की मरम्मत की और कभी पेड़ लगाए। पशुपालन को बढ़ाने के लिए घास की नर्सरी भी लगाई। उन्होंने अपने खेत में ही 9 प्रकार की घास लगाई हैं, जिनमें लेमनग्रास, दसरथ, छाया, अंजन (काली व सफेद), पवना, गिनीग्रास, मारवेल, कुसड़ शामिल हैं।

फसलों के लिए पर्याप्त पानी

गव्हाणकुंड के किसान प्रकाशचंद्र मोरले बताते हैं कि उनकी 4 एकड़ जमीन है, जिसमें संतरे और सीताफल लगाए हैं। संतरे के 500 पेड़ हैं और सीताफल के 400 पेड़ हैं, जो उन्होंने 2 साल पहले ही लगाए हैं। उन्होंने बताया कि पहले जनवरी-फरवरी में ही पानी कम हो जाता था, अब अप्रैल तक चल जाता है। पहले पानी की मोटर आधा-पौन घंटे चलती थी। अब 7-8 घंटे चलती है। वैसे ड्रिप सिंचाई से संतरों को पानी देते हैं। उनके अनुसार कि पिछले साल उन्हें संतरों की खेती से 2.5 लाख रुपए की आमदनी हुई। सीताफल के पेड़ अभी छोटे हैं, उनमें भी आगे फल लगने शुरू होंगे। इनमें पानी भी कम लगता है। इसके अलावा, अरहर की खेती भी करते हैं।

अनिल आनंदराव कावड़े बताते हैं कि उनकी 10 एकड़ जमीन है, जिसमें संतरे और तूती (शहतूत) की खेती होती है। संतरे के पेड़ पर 4-5 साल के बाद ही फल आना शुरू हो जाते हैं और 10 साल में अच्छे फल देते हैं। उन्होंने संतरे की दो किस्में लगाई है- मिरगवार और आमयावार। संतरे के पेड़ों को 8-10 दिन में पानी देना पड़ता है,पर पानी की दिक्कत होती है, जबकि उनके पास 4 कुएं व 2 ट्यूबवेल हैं। पहले उनमें पानी की कमी हो जाती थी। जबसे पानी सहेजने का काम शुरू किया है, तब से उसका असर दिख रहा है, अब 50 फीट गहरे कुओं में 10 फीट तक पानी भरा रहता है। संतरे के पेड़ भी नहीं सूखते। पिछले साल 6 लाख रुपए के संतरे बिके, जिससे करीब 1 लाख रुपए की बचत हुई। किसान अभय राजेन्द्र उघड़े, रमेश काबड़े ने बताया कि अब यहां का जलस्तर काफी बढ़ गया है। कुओं व बोरवेल का जलस्तर बढ़ गया है। हमारे गांव के किसानों को उनकी फसलों के लिए पर्याप्त पानी मिल रहा है।

इस पूरी पहल का क्या असर पड़ा, इस पर युवा किसान व प्राकृतिक खेती करनेवाले चिन्मय फुटाणे कहते हैं कि इस इलाके में संतरे की खेती होती है, जिसमें ज्यादा पानी लगता है। चार-पांच साल में एक बार सूखा पड़ता है, जिन गांवों में पानी बचाने का काम नहीं हुआ है, वहां संतरे के पेड़ सूख जाते हैं, पर गव्हाणकुंड में बारिश के पानी की एक-एक बूंद बचाने का काम हुआ है, वहां पेड़ नहीं सूखते। वहां का जलस्तर बढ़ा है। सामान्य बारिश के दिनों से जनवरी-फरवरी तक कुओं से आधा-एक घंटे मोटर से पानी ही ले पाते थे, अब कहीं-कहीं 4-5 घंटे से 8 घंटे तक मोटरें चलती हैं। कुओं का भूजल स्तर भी बढ़ गया है। अन्य फसलों पर भी इसका स्पष्ट असर देखा जा सकता है। रबी में चने की फसलों का रकबा भी बढ़ गया है। इसके अलावा जब बारिश का अंतराल बढ़ जाता है, तब भी कुओं से सिंचाई हो जाती है। पेड़ों में ड्रिप सिंचाई होती है, जबकि अनाज में स्प्रिंकलर से पानी दिया जाता है।

समृद्ध गांव योजना

पानी फाउंडेशन से जुड़ी इंजीनियर आरती खडसे ने बताया कि इस पूरी पहल का नेतृत्व गांव का ही रहा है। वर्ष 2016 में 3 तालुका से शुरू हुआ यह काम अब 76

तालुकाओं में फैल गया है। इस काम को गहराई से अपनाने और गांवों को समृद्ध व खुशहाल बनाने के लिए वर्ष 2020 से समृद्ध गांव स्पर्धा शुरू की गई है। इसके अंतर्गत फलदार पौधे भी लगाए, लोगों को सालभर रोजगार मिला, बचत समूह सक्रिय हो गए और वे बचत करने लगे, पानी-मिट्टी का संवर्धन व संरक्षण हुआ। केंचुआ खाद, जैविक खाद बनाया जाने लगा। इतना ही नहीं निजी व सामूहिक जमीन पर पौष्टिक खाद डाली गई, जिससे पानी व मिट्टी का संवर्धन हुआ है। पानी की स्थिति जानने के लिए हमने सर्वेक्षण किया। इससे पता चला कि क्षेत्र में कुओं की संख्या बढ़ गई है। अब हम किसानों को खेती की लागत का हिसाब-किताब लिखने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। इसके अलावा, नर्सरी, पौष्टिक घास, और पेड़ लगाने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। पशु आहार, जड़ी-बूटियां भी हो रही हैं। पशुपालन को बढ़ावा दे रहे हैं। इसके लिए सार्वजनिक व निजी जमीन पर घास उगाने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है। एक और नियम बनाया है, जिसके तहत 1000 की आबादी वाले गांव में कम से कम 3000 हजार पेड़ होने चाहिए। इस तरह अभी कुछ गांवों में पेड़ लगाने का काम जारी है। जिसमें सावगां, पोरगवां गांव शामिल हैं।

गव्हाणकुंड को पुरस्कार मिले

सुमित गोरले बताते हैं कि हमारे गांव को इस काम में अच्छी उपलब्धियां प्राप्त हुई हैं। गांव को कई पुरस्कार मिल चुके हैं। वर्ष 2016 में सत्यमेव जयते वाटर कप स्पर्धा में 5 लाख का उत्तेजनार्थ पुरस्कार, वर्ष 2017 में 5 लाख का सातत्य पुरस्कार और जलयुक्त सिवार की स्पर्धा में 5 लाख का पुरस्कार हासिल किया है। इस राशि का उपयोग ग्राम पंचायत की ओर से बांध की सामग्री खरीदने में, हर घर में वाटर मीटर लगाने व गांव के विकास में खर्च में किया जा रहा है। उन्होंने बताया कि इस पूरी प्रक्रिया में महाराष्ट्र सरकार ने भी मदद की। पूर्व मुख्यमंत्री ने इसमें काफी दिलचस्पी ली थी। अन्य योजनाओं से इस काम को जोड़ा। लोगों को इससे पानी सहेजने में प्रोत्साहन मिला।

कुल मिलाकर, इस पूरी पहल का अच्छा असर हुआ है। यहां पेड़ों की संख्या बढ़ी है। भूजल स्तर बढ़ा है। किसानों की खेती पहले से बेहतर हुई है, उनकी आमदनी बढ़ी है। पानी फाउंडेशन से शुरू हुई पहल को महाराष्ट्र सरकार ने भी मदद की है,जिससे इस काम में तेजी आई, इसका विस्तार हुआ और साधारणजन भी इससे जुड़े। इसके माध्यम से पूरा गांव का परिवेश बदला। गांवों में सामूहिकता व परस्पर सहयोग की भावना बनी है। पानी बचाने के साथ पशुपालन को भी बढ़ावा दिया जा रहा है। उनके लिए चारा लगाया जा रहा है। महिलाओं ने भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। महिला सशक्तीकरण का भी यह अच्छा उदाहरण है। कुल मिलाकर, यहां भूजल संर्वधन का सराहनीय व अनुकरणीय काम हुआ है, और इसे पेड़ लगाने व पर्यावरण रक्षा भी जोड़ने की कोशिश हुई है। लेकिन पानी के प्रबंधन व गैर-जरूरी पानी-खर्ची गतिविधियों पर रोक लगाने की भी जरूरत है। तभी ऐसी पहल सार्थक सिद्ध हो सकती हैं और पानी के संकट का टिकाऊ समाधान निकल सकता है।

अम्ही अमच्या आरोग्यसाथी

प्राकृतिक संसाधनों पर सामुदायिक अधिकारों की वापसी

अम्ही अमच्या आरोग्य साथी जैसे संगठन आदिवासी समुदाय की अस्मिता की वापसी हेतु कृतसंकल्पित हैं। यह अस्मिता प्राकृतिक संसाधनों पर उनके अधिकारों की पुनर्स्थापना के बिना संभव नहीं है। डॉ. सतीश गोगलवार और सुश्री शुभदा द्वारा जिस व्यापक दृष्टिकोण के साथ इस संस्था को दृष्टि प्रदान की गई है, वह आश्चर्यचकित करती है। यह संगठन अब अपने आप में एक आंदोलन है और इसकी कहानी हमें समझाती है कि अंतत: मनुष्य की संवेदनाएं और उसका अपने परिवेश से लगाव विपरीत परिस्थितियों में भी सकारात्मक आमूलचूल परिवर्तन ला सकता है।

'अम्ही अमच्या आरोग्य साथी (एएए),' समुदाय आधारित संस्थानों को सशक्त बनाकर जमीनी स्तर पर लोकतंत्र को मजबूत करने का काम करता है, ताकि सबके लिए समावेशी और समान समाज बनाया जा सके। यह संगठन महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र के गढ़चिरौली तथा अन्य जिलों के अलावा मध्यप्रदेश तथा छत्तीसगढ़ में गहरी पैठ रखता है। एएए ने गढ़चिरौली जिले के कोरची विकासखंड में नवजात शिशुओं की मौत के मामले कम करने के लिए घरेलू नवजात देखभाल (एचबीएनसी) कार्यक्रम के जरिए अपने काम की शुरूआत की थी। यह कार्यक्रम गढ़चिरौली में सर्च (सोसाइटी फॉर एजुकेशन, एक्शन एंड रिसर्च इन कम्युनिटी हेल्थ) के डॉ. अभय बंग के निर्देशन में शुरू किया

गया। फिलहाल एएए कुरखेड़ा और अरमोरी विकासखंडों में राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन (एनएचएम) के साथ मिलकर स्वास्थ्य सेवाओं की समुदाय आधारित निगरानी तथा नियोजन पर काम कर रहा है।

एएए ने समझा कि आदिवासी बच्चों के कुपोषण और खाद्य असुरक्षा के बीच स्पष्ट संबंध है। इसलिए उसने समग्र सामुदायिक विकास, कृषि के एकीकरण, वन अधिकार, महिलाओं के सशक्तीकरण, सामाजिक सुरक्षा तक पहुंच में सुधार और समुदाय आधारित संस्थानों को मजबूत बनाने पर ध्यान केंद्रित किया, जिससे कि स्वास्थ्य, पोषण, स्थानीय प्रशासन तथा अन्य सेवाओं की निगरानी की जा सके। साथ ही साथ इन क्षेत्रों में जवाबदेही तथा पारदर्शिता सुनिश्चित की जा सके।

संगठन अनुसूचित जनजाति (एसटी) समुदाय में अधिकारों के प्रति जागरूकता निर्मित करने पर भी ध्यान केंद्रित करता है। खासतौर पर पेसा, वन अधिकार क़ानून, महात्मा गांधी नरेगा जैसे प्रगतिशील विधानों को लेकर जो प्राकृतिक संसाधनों पर समुदायों के पारंपरिक अधिकारों को चिह्नित करके उन्हें अधिकार संपन्न बनाते हैं और उन्हें उनके विकास की योजना और निर्णय प्रक्रिया में शामिल करते हैं। संगठन विधिक अधिकारों, एनटीएफपी प्रबंधन योजना, एनटीएफपी (तेंदू और बांस) संग्रह तथा नीलामी प्रक्रिया, दस्तावेजीकरण तथा वित्तीय संसाधनों के रखरखाव को लेकर ग्राम सभा में क्षमता निर्माण कार्यक्रम आयोजित करता है।

2011 की जनगणना के मुताबिक, देश की कुल जनसंख्या में अनुसूचित जनजाति की हिस्सेदारी 8.6 फीसदी है। महाराष्ट्र में 1.05 करोड़ अनुसूचित जनजाति के लोग रहते हैं। इनमें से 85 फीसदी कृषि कार्यों में संलग्न हैं। 40 फीसदी किसान हैं, जबकि 45 फीसदी कृषि श्रमिक के रूप में काम करते हैं। जनजातीय अर्थव्यवस्था में कृषि तथा उससे जुड़े हुए पेशे ही प्रमुख हैं। हालांकि उनकी खेती में तकनीक का प्रयोग बहुत कम होता है और सिंचाई की सुविधा भी अच्छी नहीं होती। इसका असर उन इलाकों की उत्पादकता पर पड़ता है। कृषि के अलावा महाराष्ट्र के जनजातीय समूह वनों में

विभिन्न प्रकार के गैर-लकड़ी वन्य उत्पादों (एनटीएफपी), जैसे कि शहद, हरड़, महुआ, बांस, बहेड़ा, आंवला, औषधीय पौधों आदि के संग्रह पर निर्भर रहते हैं। ये बागवानी, पशुपालन, पशु चराने, मछली पालन जैसे कामों के जरिए भी अपनी आजीविका चलाते हैं। गढ़चिरौली और चंद्रपुर जिलों में 60 फीसदी से अधिक परिवार गरीबी रेखा के नीचे जीते हैं। इस क्षेत्र की अधिकांश आबादी अनुसूचित जाति, जनजाति और पिछड़ा वर्ग की है। यहां की आदिवासी आबादी में गोंड, कमार, गोवारी, कंवर, राजगोंड, हलबी, माना आदि हैं। यहां शिशु मृत्यु दर ज्यादा है और करीब 70 फीसदी बच्चे रक्ताल्पता, यानी एनीमिया से पीड़ित हैं। इससे संकेत मिलता है कि पोषण असुरक्षा का स्तर बहुत अधिक है। अनुसूचित जनजाति के समुदायों को ऐतिहासिक रूप से उनके आवास, यानी वनों पर अधिकार से वंचित किया गया है। भारतीय संविधान की पांचवीं अनुसूची, जो अनुसूचित क्षेत्रों और अनुसूचित जनजातियों के प्रशासन और नियंत्रण से संबंधित है, वह स्थानीय लोगों को उस भूमि पर बसे रहने का अधिकार देती है, जहां वे रहते हैं।

हरा सोना उगाते हैं जनजातीय समुदाय

इजामसे के चेहरे की मुस्कान उतनी ही शांत और निर्मल है, जितना कि खुद जंगल। वे हमें मसूर के खेतों, जल स्रोतों और कटीले तारों की बाड़ के बीच से करीब दो किलोमीटर भीतर ले जाते हैं, जहां कहानियां तैरती रहती हैं। हम कोरखी तालुका के भारीटोला गांव में समुदाय द्वारा संरक्षित 10 हेक्टेयर जंगल के मुहाने पर पहुंचते हैं। घने वन के भीतर ऊंचे बांस खड़े हैं, जो सामुदायिक प्रयासों की ऊंचाई के रूपक हैं। उन पर पीले उभार नजर आ रहे हैं, यानी जल्दी ही इनकी फसल तैयार हो जाएगी। बांस के अलावा यहां तेंदूपत्ता भी प्रचुर मात्रा में उगता है। घोंगुरा, महुआ और नाना प्रकार की अन्य लघु वन उपज भी यहां चुनने और उपजाने के लिए उपलब्ध हैं। गर्मियों के शुरू होते ही यहां आर्थिक गतिविधियों का तेज दौर शुरू होगा, जिसमें समुदाय के सभी परिवार भागीदारी करेंगे। इजामसे कहते हैं, 'परिवार का प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह बालक हो या वयस्क, काम पर जाएगा। स्थानीय युवा इसी तरह तो सीखते हैं।'

फसल तैयार होने के बाद सभी लोग नियमित रूप से तब तक काम करते हैं जब तक कि अंतिम उपज बाजार नहीं पहुंच जाती और पैसा नहीं मिल जाता। बांस की बिक्री से ही ग्राम पंचायतों को करोड़ों रुपए की आय होती है, जबकि तेंदूपत्ता की बिक्री से सुनिश्चित वार्षिक आय होती है। इससे परिवारों तथा ग्रामसभा की आर्थिक सुरक्षा सुनिश्चित होती है। ग्रामसभा अर्जित राजस्व को गांव के विकास के काम में लगाती है और इस प्रकार सामुदायिक वन अधिकार की मदद से स्थानीय शासन का एक स्थायी व्यवहार सामने आता है। एएए के युवा समन्वयक तन्मय कहते हैं, 'बिक्री का 20 फीसदी हिस्सा सभा को जाता है। इसके बाद ग्रामसभा, गांव के कामकाज शुरू करने की अनुशंसा करती है। समुदाय का पैसा उसके अपने विकास के लिए ही इस्तेमाल किया जाता है।'

यहां का हर गांव सामुदायिक वन अधिकारों, सामूहिक निगरानी और फसल कटाई, पैकिंग, लेखा, स्थानीय नीलामी और ग्रेडिंग आदि के मानकों का पूरा ध्यान रखता है। पूरी प्रक्रिया में गुणवत्ता का कड़ाई से पालन किया जाता है और कीमतें ग्रेडिंग के अनुसार तय की जाती हैं। इस गहन सामाजिक-आर्थिक गतिविधि को महा ग्रामसभा द्वारा निर्देशित किया जाता है। यह सभा ऐसी कुल 90 ग्रामसभाओं का संघ है, जिसका प्राथमिक लक्ष्य है ग्रामसभाओं की सामूहिक शक्ति तथा निर्णय प्रक्रिया की स्वायत्तता को बढ़ावा देना। यहां सिद्धांत है- सामूहिक सामुदायिक योजना, निर्णय प्रक्रिया तथा कदम उठाना। इजामसे कहते हैं, 'हर ग्रामसभा महा ग्रामसभा को सदस्यता शुल्क के रूप में 5,000 रुपए देती है। इस धनराशि से प्रशासनिक कामकाज की लागत निकाली जाती है। हर प्रकार के बहीखाते दुरुस्त रखे जाते हैं। इस प्रक्रिया में पारदर्शिता सबसे अहम है। आखिरकार वे 90 ग्रामसभाओं के प्रति जवाबदेह हैं!' महा ग्रामसभा की कार्यकारी संस्था के सदस्य एएए द्वारा आयोजित स्टडी सर्किल में नियमित रूप से शामिल होते हैं। अब उन्हें तमाम अधिनियमों और नीतियों की गहरी समझ हो गई है। इसी तरह से वे शक्तिशाली कंपनियों के खिलाफ कानूनी लड़ाई लड़ने में सक्षम हुए हैं!' सामुदायिक वन अधिकारों की प्राप्ति एक चरणबद्ध प्रक्रिया है, जो पिछले दो दशकों के दौरान विकसित हुई है। ऐसा संयुक्त वन प्रबंधन योजना लागू होने के बाद हुआ है। कुमारी दीदी कोरखी तालुका में महिला सशक्तीकरण की प्रक्रिया का नेतृत्व कर रही हैं और ग्रामसभा और महाग्रामसभा के खातों की जांच की प्रभारी भी हैं। वह संगठन के साथ बहुत पहले से जुड़ी हैं और उनके पास सभी रिकॉर्ड बहुत व्यवस्थित ढंग से रखे हुए हैं। हमारे सामने एक ऐसी ग्रामसभा है, जिसने बांस बेचकर डेढ़ करोड़ रुपए का फंड जुटाया है। वह हमें काम की बात बताती हैं, 'देखिए यहां कागजी कार्यवाही दुरुस्त होने से सब आसान और सहज लगता है, लेकिन हमें यहां तक पहुंचने में लंबा संघर्ष करना पड़ा। खासतौर पर महिलाओं को किसान के रूप में अपनी पहचान और समान योगदान करने वाली कहलाने के लिए जूझना पड़ा। आज वे सामुदायिक पंचायत में बैठती हैं।'

कुमारी दीदी पहले कक्षा आठ तक पढ़ी थीं और उन्होंने बाद में वाई बी चव्हाण विश्वविद्यालय से स्नातक की पढ़ाई पूरी की। विभिन्न कौशलों में निपुण होने के कारण उनका काफी सम्मान है। वे थोड़ी नाराजगी के साथ कहती हैं, 'शराब महिलाओं के जीवन का अभिशाप है। हमने अपनी ओर से सर्वश्रेष्ठ प्रयास किए, लेकिन पुरुषों से यह विनाशकारी लत छुड़ाना असंभव है।' इजामसे कुमारी दीदी के काम की भरपूर सराहना करते हुए कहते हैं, 'महिलाएं धीरे-धीरे अपने अधिकारों के बारे में जान रही हैं। वे बैठकों और वन संरक्षण के काम में बराबरी से भागीदारी करती हैं।' वे किसी साग का एक बड़ा-सा पत्ता हाथ में उठाकर कहते हैं, 'ये जमीन के लिए अच्छे नहीं हैं। ये सूरज की रोशनी को रोकते हैं और जमीन को गर्म करते हैं। इसीलिए इसके आसपास कोई घास नहीं उग रही है। इसका मतलब है हमारे पशुओं के चरने के लिए भी कोई घास नहीं होगी...'

अपनी आवाज की तलाश: भय को दूर भगाना

गत दो-तीन दशकों में इस क्षेत्र में खनन गतिविधियों का विस्तार हुआ है। मैग्नीशियम, लौह अयस्क के कारण बड़ी कंपनियां यहां आकर्षित हो रही हैं। लौह अयस्क कंपनियां भी वन में प्रवेश कर रही हैं, आदिवासियों की जमीन पर अतिक्रमण कर रही हैं और सामुदायिक प्रयासों को नुक्सान पहुंचा रही हैं। यहां अब कॉर्पोरेट के विस्तार ने कमान हाथ में ले ली है और वह इन हरे-भरे जंगलों में फैले प्राकृतिक संसाधनों की संपदा पर काबिज होते जा रहे हैं। शांत आदिवासी समुदाय की आवाज दशकों के दमन के चलते खामोश थी। अतिक्रमण करने वाली शक्तियों के बारे में कम जानकारी की वजह से

समुदाय अपने वन संसाधनों की चोरी को चुपचाप देखने पर विवश था। आदिवासी आतंक के साये में जीते थे और स्थानीय निवासी होने के बावजूद उनका अपने रिहाइशी क्षेत्र पर कोई अधिकार नहीं था। सन 1998 के बाद, जब समाजवादी कार्यकर्ताओं के एक समूह ने समुदायों के साथ काम करना, सूचना साझा करना और उन्हें सशक्त बनाना शुरू किया, तो हालात बदलने लगे। वहां के परिवारों और ग्रामसभा में धीरे-धीरे इसके नतीजे भी नजर आने लगे। दमन के प्राथमिक स्रोत को पहचान लिया गया। लोगों को अहसास हो रहा था कि वे एक अदृश्य जंजीर में बंधे हैं, जिसे उन्हें संगठित सूचित कदमों की मदद से तोड़ना होगा।

संयुक्त वन प्रबंधन योजना के माध्यम से लोग अपनी पात्रता तक पहुंच के लिए एकजुट हुए। समुदाय और वन विभाग के अधिकारियों ने साथ मिलकर वन संरक्षण का काम शुरू किया। बहरहाल, समुदाय के पास अभी भी वन उपज को एकत्रित करने, उगाने और बेचने का कोई अधिकार नहीं था, क्योंकि यह पूरी प्रक्रिया वन विभाग की देखरेख में होती थी। इस प्रक्रिया में पारदर्शिता बिल्कुल नहीं थी और मेहनताने की दर भी बहुत कम थी। जमीनी कार्यकर्ताओं के समूह के पास बहुत अधिक काम था। जैसे- समुदाय को शिक्षित करना, उसे संगठित करना और अपने अधिकारों और पात्रताओं को दोबारा हासिल करने के लिए नीति निर्माण में सहायता करना। गांवों में लोगों को विभिन्न सरकारी योजनाओं के बारे में जानकारी देने तथा उन तक पहुंच के बारे में बताने के लिए स्टडी सर्किल का आयोजन किया गया। एक बार जब समुदाय को लाभ मिलने लगे, तो उनकी भागीदारी में सुधार हुआ और स्थानीय लोगों के नेतृत्व में एक शक्तिशाली प्रक्रिया की शुरूआत हुई। ग्रामसभा को मजबूत बनाने, वन संसाधनों के संरक्षण, पात्रता तक पहुंच सुनिश्चित करने तथा सामाजिक-आर्थिक विकास के लिए स्थायी, पारदर्शी और लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को अपनाने पर ध्यान केंद्रित किया गया। तीन दशक की अवधि में बदलाव के चक्र ने गति पकड़ी है। ग्रामसभा को प्रमुख निर्णय प्रक्रिया और दिशा दिखाने वाली संस्था के रूप में नए सिरे से स्थापित किया गया है और महाग्रामसभा भी उसकी स्वायत्तता में दखलंदाजी नहीं कर सकती।

सामाजिक अनुक्रम में एकदम निचले दायरे में रहने वाली महिलाओं ने खुद को सामाजिक-आर्थिक विकास में बराबरी से सहयोग करने वाला साबित करने के लिए संगठित कदमों में भागीदारी की। उन्होंने राजनीतिक प्रतिनिधित्व की अपनी हिस्सेदारी को दोबारा हासिल भी किया। उन्होंने न केवल ग्रामसभा, बल्कि अपने समुदाय की पंचायत में भी प्रतिनिधित्व हासिल किया, जहां पारंपरिक रूप से महिलाओं को बाहर ही रखा जाता था। सामुदायिक वन अधिकारों की प्रक्रिया में महिलाओं की भूमिका ने सामूहिक सामुदायिक प्रक्रिया को और अधिक समावेशी तथा समतापूर्ण बनाया है।

दूसरी पीढ़ी की पहुंच अब मुख्यधारा की शिक्षा तक होने लगी है, लेकिन यह शिक्षा उन्हें उस ताकतवर लॉबी से लड़ना नहीं सिखाती है, जो उनसे जमीन के प्राकृतिक संसाधन छीनना चाहती है। जिन सामाजिक कार्यकर्ताओं तथा एक्टीविस्ट ने सामूहिक आंदोलन शुरू किया था, उनका प्रमुख काम आज भी पढ़ने, विश्लेषण करने और सामूहिक कदम उठाने तक केंद्रित है। वे संदर्भ बिंदु बने हुए हैं, जबकि समुदाय स्थिर गति से जरूरत आधारित समूहों और ढांचों के रूप में नए-नए स्वरूप ग्रहण करता हुआ आगे बढ़ता रहता है। इसके मूल में ग्रामसभा की संप्रभुता बरकरार रखना है।

यहां परिवार और पंचायत की आय में कई गुना बढ़ोतरी हुई है, वनों का संरक्षण हो रहा है और आदिवासी समुदाय ने इस जमीन के मूल निवासी और वनोपज पर अपने अधिकार को जोरदार ढंग से पेश किया है। कोरची में स्थानीय समुदाय फिलहाल बिजली कंपनी के साथ कानूनी लड़ाई में उलझा हुआ है। वह अतिक्रमित भूमि के लिए मुआवजे की मांग कर रहा है। उन्हें हर्जाने के रूप में 5 करोड़ रुपए की राशि देने की बात कही गई है। वर्तमान लड़ाई जिलाधिकारी के उस निर्णय के खिलाफ है, जिसने ग्रामसभा के खाते सील कर दिए हैं। इस वजह से क्षतिपूर्ति की राशि ग्रामसभा की पहुंच में नहीं रह गई है। उनकी लड़ाई मुख्याधारा के उस रवैये के खिलाफ भी है, जो आदिवासी समुदाय को अपने पैसे का समुचित इस्तेमाल करने में अक्षम मानता है। वे यह भूल जाते हैं कि अकेले एक पंचायत केवल बांस बेचकर करोड़ों रुपए कमा सकती है और उसका एक हिस्सा वापस विकास कार्यों में भी लगाती है।

गायब होते पारंपरिक भोजन की राजनीति

इजामसे ने पिछले तीन दशक के दौरान बेहद गहरा और लंबा संघर्ष किया है। घने जंगल में एक छोटा जाल लगाने में तल्लीन इजामसे स्थानीय भोजन में से मोटे अनाज के गायब होने, समुदाय के युवाओं की इससे दूरी के बारे में वे स्पष्ट बात करते हैं- 'यह वे युवा हैं, जो हमारे संघर्ष का फल पा रहे हैं। उन्हें अभी यह समझना है कि सामुदायिक वन अधिकार प्रक्रिया में उनकी क्या भूमिका है। युवाओं में ज्यादा ऐसे नहीं हैं, जो पारंपरिक कारोबार या खेती आदि सीखना चाहते हों। वे सफेद चावल खाना, मोबाइल फोन इस्तेमाल करना और शहरी लोगों की जीवनशैली का अनुकरण करना चाहते हैं। यदि उनकी ओर ध्यान नहीं देंगे, तो हम अपना पारंपरिक ज्ञान भुला बैठेंगे।' इससे पहले हमारी मुलाकात एक स्थानीय आदिवासी युवा दीपक हुई। वह अपने मोबाइल फोन के जीपीएस मैपिंग टूल की मदद से सामुदायिक वन प्रबंधन योजना विकसित करने को लेकर जुनूनी है। दीपक ने 7-8 सामुदायिक योजनाओं के मानचित्र तैयार करने में योगदान किया है और उसे आशा है कि वह भविष्य में ऐसा करने के लिए और समय निकाल सकेगा।

तीन दशक पहले युवा इजामसे जीवनशाला के शिक्षक के रूप में काम करते थे। वे मराठी बोलने वाले सरकारी स्कूल शिक्षकों और गोंडी बच्चों के बीच संवाद और सीखने की प्रक्रिया में मध्यस्थ के रूप में काम करते थे। उन्होंने मराठी से गोंडी शब्दकोष तैयार किया, जीवन कौशल सीखने में भागीदारी की और स्थानीय बच्चों के लिए शिक्षा सुनिश्चित करने में उनकी अहम भूमिका रही है। वह कहते हैं, 'बाद में मैंने एएए संगठन में काम करना शुरू कर दिया। मैं किसी विशिष्ट परियोजना पर काम नहीं करता हूं। मैं बस ग्रामसभा को मजबूत करने की प्रक्रिया, पेसा (पीईएसए), एफआरए या सामुदायिक जरूरत के किसी भी काम में लग जाता हूं। संयुक्त वन प्रबंधन प्रक्रिया से लेकर न्यायालय में एक बिजली कंपनी के खिलाफ मौजूदा मुकदमे तक, मैंने अपने समुदाय को लगातार मजबूत होते देखा है, लेकिन जरूरत यह है कि हमारे युवा भी इन कामों में लगें वरना हम उन्हें खो देंगे और वे भी खनन कंपनियों में या शहरों में काम

करने लगेंगे।' इजामसे एक फसली खेती को लेकर चिंतित हैं, क्योंकि बांस अन्य पौधों की बाढ़ को प्रभावित करता है और जैव विविधता को भी प्रभावित करता है। वह कहते हैं- 'हमें इससे निपटने के तरीके तलाश करने होंगे।'

वे कहते हैं बाहरी लोगों, कंपनियों, विकास संगठनों, राजनीतिक दलों, ठेकेदारों, कारोबारियों और यहां तक कि आदिवासी विकास कार्यक्रम चलाने वाली सरकार समर्थित एजेंसियों के आगमन तक से आदिवासी जीवनशैली प्रभावित हुई है। ऐसे कई 'एकीकरण' जमीन, वन उपज, जल तथा अन्य प्राकृतिक संसाधनों के जरिए किए जा रहे हैं। मोटे अनाज थाली से गायब हैं और बिना उपज के वनों से हासिल खाद्य उत्पाद, जड़ों और कंद की जगह सफेद चावल, रिफाइंड तेल और पैकेट बंद सामान ने ले ली है। इस तरह समुदाय के खानपान और पोषण में काफी बदलाव आ रहा है। कपास की जगह पॉलिस्टर के कपड़े ने ले ली है। पूजापाठ की आदिवासी पद्धति की जगह मुख्यधारा के एक धर्म ने ले ली है और इस नए रुझान के साथ जीवन के अर्थशास्त्र ने आदिवासी पारिस्थितिकी तंत्र को भी प्रभावित किया है। ऐसे परिदृश्य में सामुदायिक संघर्ष की भूमिका और अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि वे खुद को कानून और नीतियों के आसपास शिक्षित करते हैं, कानूनी लड़ाई लड़ते हैं और जरूरत पड़ने पर एक संघबद्ध संस्था के रूप में सामने आते हैं।

कृषि के पारंपरिक तरीकों की ओर वापसी

अन्य सहयोग करने वालों में स्थानीय थिएटर समूह भी है। गांव की पानी की इस टंकी का निर्माण दान से किया गया है। शेतकरी मंडल के सदस्य बहुत गर्व से अपने जैविक खेत हमें दिखाते हैं, जहां नाना प्रकार के पौधे और अनाज लगे हैं। उन्हें हाल ही में अपनी जैविक उपज का प्रमाणपत्र भी हासिल हुआ है। वे जैविक खेती से जुड़े कई समारोह में शामिल हो चुके हैं और वे कृषि विभाग के साथ साझेदारी में तालुका स्तरीय एफपीओ के सदस्य हैं। उनका कहना है- 'जल्दी ही हमारे पास गांव स्तर पर अपनी दुकान होगी जहां हम दूसरों के साथ अपनी उपज बेच सकेंगे।'

किसान उत्साह से रासायनिक खेती से जैविक खेती के अपने सफर की बात करते

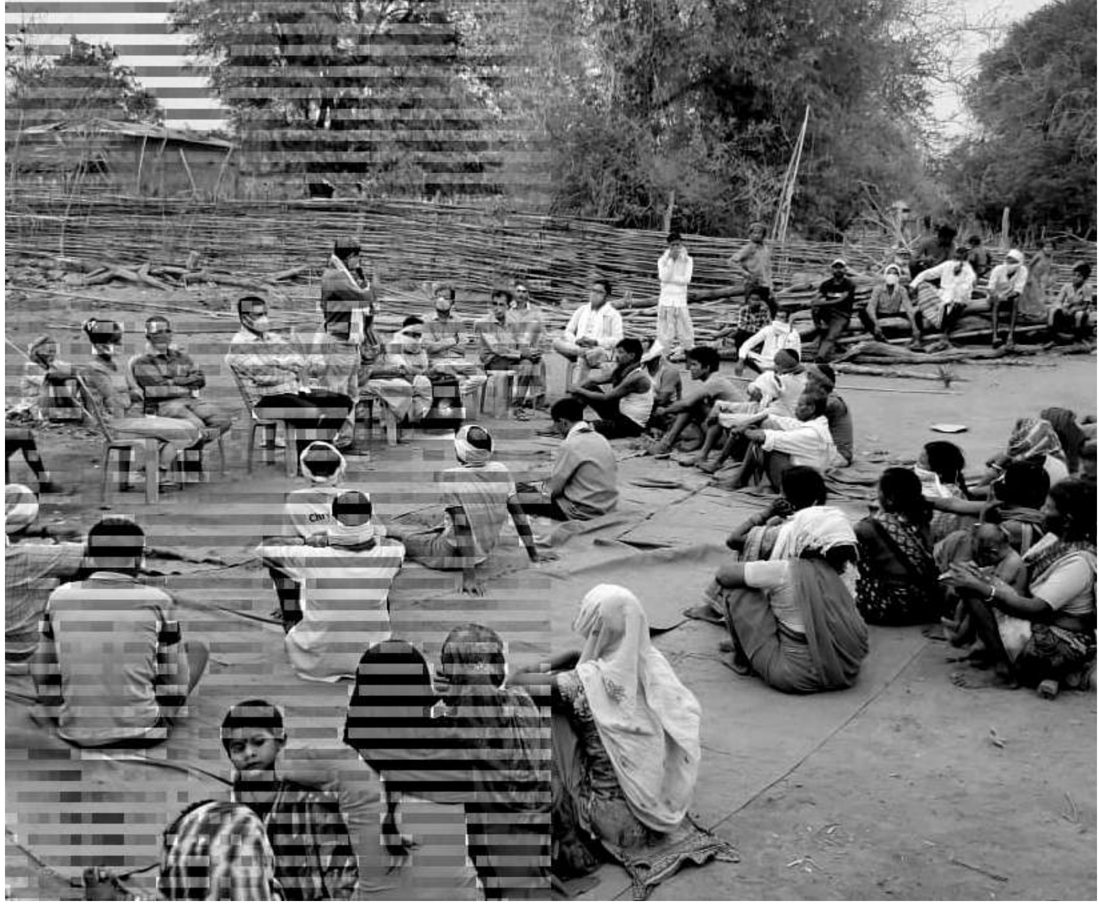

हुए कहते हैं- 'यह बहुत धीमी प्रक्रिया रही और शुरूआत में उत्पादकता कम होने के कारण कई लोग साथ छोड़ गए, लेकिन अब जब वे हमारी प्रगति देखते हैं, तो वापस लौट रहे हैं।' महीने में दो बार शेतकरी मंडल की बैठक में हालात का जायजा लिया जाता है, खातों का प्रबंधन किया जाता है और मार्केटिंग तथा अन्य कामों की योजना बनाई जाती है।

शेतकरी मंडल में महिला किसानों के समूह भी शामिल हैं। इनकी अलग बैठक तथा ग्राम स्तर पर अलग खाते हैं। संयुक्त बैठक भी बुलाई जाती हैं और निर्णय लिए जाते हैं। महिलाओं ने भी किचन गार्डन स्थापित किए और वे जैविक खेती में भागीदारी की योजना भी बना रही हैं। काशीबाई अपने पति के बारे में कहती हैं- 'यदि मैं स्वयं सहायता समूह की बैठक में जाती, तो वे मुझे मारते थे। मुझे शर्मिंदगी महसूस होती। आज मैं उनसे कहती हूं कि उन्हें मुझे मारने का कोई अधिकार नहीं है। मैं अपने लिए

खुद कमाती हूं, अपने परिवार की देखरेख करती हूं, मैंने अपने परिवार में चार सदस्यों की शादियां भी की हैं, मैं वह सब कर सकती हूं, जो तुम करते हो... मैं तुम्हारी कमाई नहीं खाती हूं... तुम मुझे नहीं मार सकते।' महिला किसान अपनी आय के साथ ही अपनी आजादी हासिल करने में भी सक्षम हुई हैं।

जैविक खेती कोई अलग-थलग गतिविधि नहीं है, बल्कि समग्र सामुदायिक विकास में इसकी भूमिका है। एएए महिलाओं को बदलाव की प्रक्रिया में बराबरी का साझेदार मानता है। इसके लाभ भी धीरे-धीरे बढ़ रहे हैं। आज जैविक किसान एक एकड़ से 20-25 क्विंटल तक चावल उपजा लेते हैं। शुरूआत में उन्हें प्रति एकड़ 8 से 12 क्विंटल का नुक्सान हो रहा था। एएए से निरंतर तकनीकी समर्थन मिलने के कारण जैविक उर्वरकों, जमीन तैयार करने, बुवाई और सिंचाई तकनीक आदि का प्रशिक्षण आसान हुआ है।

एएए की कोशिश यह भी रही है कि समुदाय को सरकारी योजनाओं से जोड़ा जा सके। वर्मी गांव वाले वर्मी-कंपोस्ट खाद से लेकर विधवा पेंशन, आवास योजना, छात्रवृत्ति, कृषि उपकरण योजना तक वे सबका लाभ लेते हैं। आज, गांव अपनी तरह से आत्मनिर्भर हो गया है।

कृषि और संबद्ध पेशों में एएए के कार्य

हरित क्रांति ने मशीनों, उर्वरकों और संकर बीजों की मदद से फसल उत्पादन में बढ़ोतरी की थी। उस समय किसान पारंपरिक रूप से धान, मोटे अनाजों की देसी किस्मों की खेती कर रहे थे। इस में पोषक तत्व बहुत अधिक होते थे। संकर बीज, रासायनिक उर्वरक और मशीनों के इस्तेमाल ने सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और पर्यावरण पारिस्थितिकी को प्रभावित किया है। एएए ने पारंपरिक स्वदेशी तकनीक से खेती करने तथा परिवारों के लिए खाद्यसुरक्षा और पोषण की विविधता वाला भोजन उपलब्ध कराने के लिए पुरानी ज्ञान परंपरा का इस्तेमाल करने का निर्णय लिया। यह भी तय किया गया कि उपलब्ध संसाधनों का सतत इस्तेमाल किया जाएगा।

किचन गार्डन 40 गांवों के एसएएम/एमएएम परिवारों के बच्चों को जैविक विधि से उगाई गई ताजी पोषक सब्जियां उपलब्ध कराता है। प्रशिक्षित आरोग्यसाथी कार्यकर्ता किचन गार्डन को प्रोत्साहित करते हैं और वर्मी कंपोस्ट, जैव कीटनाशक आदि की मदद से पोषण बगीचा स्थापित करने की तकनीक साझा करते हैं। यह प्रक्रिया बच्चों में कुपोषण कम करने में बहुत उपयोगी है।

सामुदायिक वन अधिकारों का प्रबंधन

महाग्रामसभा वन, कृषि, स्वास्थ्य, शिक्षा, सामुदायिक शासन और देशज संस्कृति आदि जैसे विषयों पर चर्चा करती है। इसकी स्थापना 2016 में की गई थी। यह कोरची की ग्रामसभाओं में तेंदूपत्ता संग्रह और नीलामी प्रक्रिया में भी मदद करती है। वर्ष 2018 में कई कारणों से तेंदूपत्ता बाजार में गिरावट आई और ठेकेदारों ने ग्रामसभा से तेंदूपत्ता खरीदने से इंकार कर दिया। गढ़चिरौली तथा अन्य इलाकों के कई गांवों में ऐसा हुआ, लेकिन कोरची महाग्रामसभा ने अपने पत्ते सफलतापूर्वक नीलाम किए। वर्ष 2019 में तेंदूपत्ता संग्रहण में कुल 32,116 (16,170 पुरुष और 15,946 महिलाएं) शामिल थे और इससे रॉयल्टी और मेहनताने समेत कुल 6 करोड़ रुपए से अधिक अर्जित हुए।

पौधरोपण के माध्यम से वन संरक्षण

सामुदायिक वन अधिकारों को चिह्नित करने के बाद ग्रामसभाएं न केवल प्राकृतिक संसाधनों का समुचित इस्तेमाल कर रही हैं, बल्कि वे वनों के सतत प्रबंधन में भी शामिल हैं। कोरची विकासखंड की पांच ग्रामसभाओं ने 2014-2015 में अपने 120 हेक्टेयर के सामुदायिक वन संसाधन (कम्युनिटी फॉरेस्ट रिसोर्स यानी सीएफआर) के इलाके में एनटीएफपी (बांस, आंवला, अमरूद, सेब, आम, जामुन तिलहन तथा अन्य पौधों समेत) के 70,000 पौधे लगाए। तय किया गया कि अब बांस का इस्तेमाल विनिर्माण तथा अन्य गतिविधियों में लकड़ी के स्थान पर किया जाएगा, जिससे वन क्षेत्र बढ़ेगा। इन पौधों को बाड़ लगाकर घेरा गया है और गांव वालों ने यहां से कुछ भी लाने-ले जाने पर कड़ा प्रतिबंध लगा रखा है। इसका नतीजा वन क्षेत्र में इजाफा होने,

जैव-विविधता बढ़ने और वन्य जीवों, पक्षियों तथा अन्य प्रजातियों की बढ़ती तादाद के रूप में सामने आया है।

ग्रामसभा में महिलाएं

कोरची ग्रामसभा की महिलाएं समय-समय पर अपने स्टडी सर्किल में खासतौर पर वन अधिकार प्राविधानों और क्रियान्वयन के मुद्दों को लेकर चर्चा करती है, सभी महिलाएं कोरची स्थित 'महिला संघ' की सदस्य हैं और आमतौर पर वे स्थानीय स्वशासन प्रणाली में महिलाओं की भागीदारी का मुद्दा उठाती हैं। महिलाओं के दबाव की वजह से महाग्रामसभा की कार्यकारिणी और साधारण सभा में महिलाओं की 50 प्रतिशत भागीदारी सुनिश्चित हो सकी है।

घर के पीछे किचन गार्डन को बढ़ावा

ग्रामीण और आदिवासी इलाकों में सामान्यतया हर परिवार के पास घर के पीछे एक किचन गार्डन होता है जिसमें वे कमोवेश वर्षभर सब्जियां उगाते हैं। वैसे वे फरवरी से जून तक वे साप्ताहिक हाट पर निर्भर रहते थे। अब पौधे लगाने, सिंचाई और प्राकृतिक कीट नियंत्रण की व्यवस्था होती है। संगठन ने सर्किल गार्डन, सूक्ष्म सिंचाई व्यवस्था के साथ ट्रे में उपज, रणनीतिक भंडार, नर्सरी, सॉइल पोस्ट आदि के रूप में सिंचाई तथा अन्य सुविधाओं की पेशकश की। उन्होंने घर के पीछे बने गार्डन के लिए जैव उर्वरक, कंपोस्ट और जैव कीटनाशक भी तैयार किए। इससे इन गार्डन की विविधता और उत्पादन दोनों में सुधार हुआ। घर के पीछे बने गार्डन में महिलाओं की अहम भूमिका होती है लिए उन्हें विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है।

इसके माध्यम से सरकारी विभागों के साथ सहयोग में मनरेगा और कृषि विभाग शामिल हैं। 46.5 एकड़ आईएफआर भूमि और 171.5 एकड़ राजस्व भूमि में भूमि सुधार किया गया और जैव उर्वरक और कीटनाशक तैयार करने के लिए उपकरण जुटाए गए। इस प्रक्रिया में सरकारी योजनाओं से 2.2 करोड़ रुपए की राशि प्राप्त हुई।

संस्थापक-सदस्य का दृष्टिकोण

सन 1974 में जननायक जयप्रकाश नारायण ने संपूर्ण क्रांति का नारा दिया था। देश भर के युवाओं ने जयप्रकाश नारायण के 'नवनिर्माण' के आह्वान पर अपनी भागीदारी दी। इस छात्र आंदोलन के संगठन छात्र युवा संघर्ष वाहिनी, महाराष्ट्र के सदस्य एक युवा मेडिकल छात्र ने अपने अंतिम वर्ष की परीक्षा छोड़कर जयप्रकाश नारायण से मिलने पटना जाने की ठानी।

परंतु यह नहीं हो सका। स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं के चलते जयप्रकाश नारायण का निधन हो गया। युवा ने उनके काम को जेपी आंदोलन की विचारधारा के साथ आगे बढ़ाने का निश्चय किया। यानी सामूहिक कार्य और जनता का नेतृत्व। वह विदर्भ लौटा और जनजातीय भूमि अधिकार आंदोलन में लग गया, जिसका नेतृत्व नारायण सिंह उइके और उनके बाद सुखदेव बाबू उइके ने किया। मोहन और शुभदा के साथ मिलकर डॉ. सतीश गोगुलवार ने जागृति आदिवासी संगठन समेत विभिन्न स्थानीय आंदोलनों के साथ मिलकर बहुत गहराई से आदिवासियों को एकजुट करने, शिक्षित करने और सामूहिक पहल करने का काम किया।

गढ़चिरौली, चंद्रपुर और नागपुर में समूह ने स्टडी सर्किल, शिविर, सेमीनार और कार्यशालाओं का आयोजन किया। बाद में शुभदा और डॉ. सतीश ने अम्ही अमच्या आरोग्यसाथी की शुरूआत की। इनका आरंभिक कामकाज नवजात शिशुओं की मृत्यु के मामले कम करने और स्वास्थ्य संस्थानों में मातृ देखभाल की स्थिति सुधारने का था। प्रगतिशील कानूनों और पेसा, एफआरए, मनरेगा जैसे कानूनी उपायों को पढ़कर सामाजिक सुरक्षा योजनाओं तक पहुंच में सुधार किया गया। इससे एक आंदोलन तैयार हुआ और सामुदायिक वन अधिकार हासिल हुए। डॉ. सतीश और शुभदा इस बात पर जोर देते हैं कि मूल बात है पात्रताओं और अधिकारों को लेकर जागरूकता तैयार करना। इसके बाद सामूहिकता के साथ प्रक्रिया को परिभाषित किया जाता है और मुद्दे को आगे बढ़ाया जाता है। जेपी आंदोलन के मूल सिद्धांत का अनुसरण करते हुए एएए लगातार अपना काम जारी रखे हुए है, जिसके तहत सामूहिक क्षमताओं को मजबूत किया जाता है, जिससे समुदाय के प्राकृतिक संसाधनों का प्रबंधन किया जाए और ग्रामसभा को मूल में रखते हुए स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था बनाई जा सके।

कार्यालय
वन हक्क कायदा २००६ नियम २००८ व
सुधारीत नियम २०१२ अंतर्गत
सामुहिक वन हक्क प्राप्त ग्रामसभांचे महासंघ
महाग्रामसभा ता
पत्ता:- गौरी चौक, वार्ड क्र.११ मु.पो.ता.कोरची जि.गडचिरोली

TENT 2
WAITING
"HELP US HEAL
ONE LIFE AT A TIME"
HEALING LIVES
ENRICH • EDUCATE • EMPOWER
www.healing-lives.org

हीलिंग लाइव्स

किसानों को समर्थ बनाने की पहल

हीलिंग लाइव्स एक जागरूक नागरिक द्वारा स्थापित ऐसी संस्था है, जो कृषि के सर्वांगीण विकास हेतु प्रतिबद्ध है। महाराष्ट्र के पुणे में स्थापित यह संस्था अनेक प्रदेशों में कार्यरत है और कृषि एवं शिक्षा पर समानांतर कार्य कर रही है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि की महत्वपूर्ण भूमिका है। जल जंगल, जमीन पहाड़, पर्यावरण, जीव जंतु सब मिलकर कृषि को संभव बनाते हैं। पिछले दशकों में कृषि में कई महत्वपूर्ण बदलाव हुए हैं। एक तरफ जहां कृषि प्रगतिशील हुई है, तो दूसरी ओर खेती-किसानी पर संकटों के बादल भी गहरे हुए हैं। छोटी होती जोत, जलवायु परिवर्तन के चलते फसलों का नुक्सान, छोटे किसानों के पास संसाधनों का अभाव के साथ ही किसानों की बड़ी आबादी में जानकारी और जागरूकता का अभाव भी बड़ा संकट है। कहीं बारिश, कहीं सूखा तो कहीं बेमौसम बारिश किसानों को नुक्सान और कर्ज की तरफ धकेल रही है। किसानों की सहायता के लिए सरकारों के साथ साथ कई गैर-सरकारी संस्थाएं अपने-अपने स्तर पर प्रयासरत हैं, जो किसानों को जलवायु अनुकूल, नए जमाने की खेती, नई मशीनों, आदि की जानकारी दे रही हैं।

हीलिंग लाइव्स ऐसी ही एक संस्था है, जो शिक्षा, पर्यावरण, कृषि व स्वास्थ्य पर न सिर्फ भारत में बल्कि कई अन्य देशों में काम करती है। संस्था की फाउंडर जानकी विश्वनाथ कहती हैं- 'हम कई ज़िंदगियां नहीं बदल सकते, लेकिन किसी एक की ज़िंदगी को बदलने का सामर्थ्य हम सब में है, तो हमें वह कोशिश जारी रखनी चाहिए।'

हीलिंग लाइव्स की बोर्ड सदस्य रश्मि कुलकर्णी बताती हैं, 'हीलिंग लाइव्स फाउंडेशन मुख्य रूप से अफ्रीका, भारत और बांग्लादेश में काम करता है। भारत में हमारा मुख्य ध्यान कृषि और पर्यावरण पर है, जबकि अफ्रीका और बांग्लादेश में हम स्वास्थ्य पर काम करते हैं। भारत की बात करें, तो संस्थान ने उत्तरप्रदेश के बाराबंकी में एक खुली पाठशाला ओपन एयर स्कूल और कृषि प्रशिक्षण केंद्र खोला है। यह दूरदराज इलाकों में किसानों के बच्चे पढ़ सकें, इसके लिए हैं। यहां गांव का ही एक पढ़ा-लिखा युवा बाकी बच्चों को पढ़ाता है। ऐसा ही एक विद्यालय असम के सुदूर इलाके में भी है।' असम में भी हम लोग मोरान ब्लाइंड स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों को आर्थिक मदद भी देते हैं।

रश्मि के मुताबिक हीलिंग लाइव्स कुछ काम वह खुद करता है, जबकि कुछ वो स्थानीय एनजीओ को आर्थिक मदद के जरिए करवाता है। जैसे बुंदेलखंड के मध्यप्रदेश वाले हिस्से में 'सेव इंडियन फार्मर' के जरिए कई जगहों पर डैम, चैकडैम बनवाए गए हैं।

रश्मि कुलकर्णी बताती हैं- 'हम छोटे एनजीओ को पार्टनर बनाकर काफी काम करते हैं। उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, मणिपुर, असम में भी स्थानीय भागीदारों के साथ कृषि और दूसरे मुद्दों पर काम करते हैं। मध्यप्रदेश में हमने महिलाओं के लिए किचन गार्डन और बीज बैंक बनाने मदद की थी। इसके अलावा बाढ़ और दूसरी आपदाओं के दौरान हम प्रभावित इलाकों में राशन और जरूरी चीजें पहुंचाते हैं।'

पुरानी खेती के साथ तकनीक का समावेश

उत्तरप्रदेश का बाराबंकी जिला वैसे खेती के मामले में आगे है, लेकिन ज्यादातर किसान गेहूं, आलू, मेंथा (पिपरमिंट ऑइल) आदि की खेती करते हैं। कुछ किसान सब्जियों और तरबूज आदि की भी खेती करते हैं। ज्यादातर लोग परंपरागत तरीके से ही खेती करते हैं। हीलिंग लाइव्स ने इस केंद्र के तहत यहां किसानों को नई नई विधियों से खीरा, तरबूज, लौकी, कद्दू लगाने के लिए लगाने के लिए प्रशिक्षण दिया, जिसके चलते कई किसानों को फायदा पहुंचा।

किसान प्रशिक्षण केंद्र शुरू करने के बारे में हीलिंग लाइव्स के उत्तरप्रदेश में कार्यकर्त्ता जयंत मिश्रा बताते हैं- 'पहली बार हम लोग बाराबंकी और सीतापुर के इन सुदूर इलाकों में करीब 4 साल पहले 2019-20 में घाघरा की बाढ़ के दौरान आए। तब यहां बहुत नुक्सान हुआ था, लेकिन राहत कार्य के नाम पर सिर्फ लइया चना बांटा जा रहा था। सैकड़ों लोग खुले आसमान के नीचे रहने को मजूबर थे, क्योंकि घरों में पानी था। वे तस्वीरें हम लोगों ने अपने फाउंडेशन (हीलिंग लाइव्स) की संस्थापक जानी विश्वनाथ जी को भेजीं, जिन्हें देखकर सबसे पहले हम लोगों ने सीतापुर जिले की रामपुर-मथुरा तहसील और बाराबंकी में फतेहपुर और रामनगर तहसील के दर्जनों गांवों में तिरपाल और सूखा राशन आदि की व्यवस्था कराई। उसी दौरान किसानों से बातचीत के दौरान पता चला कि वे वर्षों पुरानी शैली से खेती कर रहे हैं, जिसमें बदलाव की जरूरत महसूस हो रही है।'

जयंत के मुताबिक समस्या यह थी कि न तो यहां अधिकारी और वैज्ञानिक ज्यादा आते थे और ना ही यहां के ज्यादातर किसान कहीं बाहर एक्सपोजर विजिट के लिए जाते थे। तमाम लोगों से बात करने के बाद जानी विश्वनाथजी ने तय किया कि किसान अपने पैसे खर्च कर बाहर न जाएं, बल्कि वैज्ञानिक और अधिकारी, एक्सपर्ट यहीं आकर बात करें, इसलिए बाराबंकी के टांडपुर गांव में एक किसान केंद्र खोला गया।

'इस केंद्र पर हर नई फसल की बुवाई के दौरान किसानों को बीज, खाद, बुवाई के तरीके के बारे में बताया जाता है। कई बार ये प्रशिक्षण एक-एक महीने के अंतराल पर भी होते हैं। हीलिंग लाइव्स लखनऊ से भी अलग-अलग फसलों के वैज्ञानिक और एक्सपर्ट को लेकर आता है, जिनसे किसान सीधे सवाल जवाब कर सकते हैं। जैविक कंपोस्ट, वर्मी कंपोस्ट बनाना, इंटीग्रेटेड पेस्ट मैनेजमेंट के ज़रिए कीट-पतंगों से फसल

ANTIBIOTICS
HEALING LIVES

JUBILEE GARDENS
HEALING LIVES
HEALING LIVES

को बचाना व ऐसे कई देसी तरीके, जिनसे कम लागत और मिट्टी की उर्वरता को नुक्सान पहुंचाए बिना, कैसे खेती को मुनाफे का सौदा बनाया जा सके, ऐसे तरीके सिखाए जाते हैं। इसके साथ ही हम लोग मौसम के बदलाव को देखते हुए किसानों को संरक्षित खेती करने के लिए भी प्रेरित करते हैं। नए औजार और उपकरण भी रखे गए हैं, जिन्हें किसान देख-समझ सकते हैं। हीलिंग लाइव्स कोशिश करता है कि किसानों को खेत में ही उसके काम की जानकारी दी जाए। खेतों में ही लाइव डेमो भी किया जाता है। अब तक 15 से ज्यादा प्रशिक्षण शिविर लगाए जा चुके हैं।'

टांडपुर गांव के शिवम सिंह (24 वर्ष) अपनी करीब 10 एकड़ और कुछ और जमीन किराए पर लेकर खेती करते हैं। वे कहते हैं- 'यहां इस केंद्र पर अक्सर कोई न कोई वैज्ञानिक या जानकार आते रहते हैं, उनसे काफी कुछ सीखने को मिलता है। दूसरा पहले हम लोग तरबूज सीधे खेत में लगाते थे, जिससे खरपतवार बहुत होता था, लेकिन सेंटर पर मल्लिंग (प्लास्टिक सीट) बिछाकर खेती देखी, जिसमें खरपतवार नहीं होता है, तो अच्छी चीज देखने को मिली।'

संतोष सांभरे बताते हैं कि 'देसी बीजों को बचाने के लिए राही बाई पोपरे को सरकार ने पद्मश्री दिया। मैं भी उनसे बीज लेने गया था, ताकि अपने आसपास के लोगों को दे सकूं, लेकिन वो बहुत ज्यादा बीज उगा नहीं पा रही थीं, क्योंकि उनके पास कोई साधन नहीं थे, उनकी इस समस्या को देखते हुए हीलिंग लाइव्स ने उन्हें एक ट्रैक्टर दिया। अब वो ज्यादा बीज उगा रही हैं। ज्यादा किसानों को इसका फायदा मिले, इसलिए हीलिंग लाइव्स पद्मश्री राही बाई के साथ एक बीज बैंक भी बना रहा है।' संतोष सांभरे पूर्व सैनिक और महाराष्ट्र में गैर-सरकारी संगठन हीलिंग लाइव्स के कोर सदस्य हैं। संतोष 23 साल तक सेना में रहे और कई राज्यों में उनकी तैनाती रही, लेकिन जो 6 साल उन्होंने पंजाब में बिताए, उनके लिए काफी मुश्किल भरे रहे। वे कहते हैं- 'पंजाब में मेरी तैनाती बॉर्डर

इलाकों में थी और अक्सर किसानों के बीच समय बीतता था, पंजाब में जिस तरह कीटनाशक और रासायनिक उर्वरक के इस्तेमाल से मिट्टी और लोगों की सेहत को नुक्सान पहुंचा था, उसे मैंने बहुत करीब से देखा था। रिटायर होने के बाद मैंने हीलिंग लाइव्स से जुड़कर किसानों को देसी खेती व देसी बीजों के प्रति जागरूक करना शुरू किया। देसी बीज इसलिए, क्योंकि महाराष्ट्र में कभी सूखा... कभी बहुत ज्यादा बारिश होती है वे हर तरह के हवामान (जलवायु) में फसल देते हैं।' उनके मुताबिक हीलिंग लाइव्स महाराष्ट्र में कृषि के अलावा शिक्षा और पर्यावरण के लिए भी काम करता है।

ओपन एयर स्कूल, सीतापुर

सरयू की भीषण बाढ़ का सामना करने वाले सीतापुर जिले का बलेश्वरपुरवा गांव दो तरफ से नदियों से घिरा है। मानसून के दौरान यहां के कई गांव बाहरी दुनिया से कट से जाते हैं। बलेश्वरपुरवा में ज्यादातर निवासी मल्लाह परिवार से हैं, जो खेती के साथ ही मछलीपालन भी करते हैं। इन गांवों के ज्यादातर युवा दिल्ली, मुंबई, सूरत आदि शहरों में कंस्ट्रशन वर्कर या पेंटर का काम करते हैं। इनके घरों के ज्यादातर बच्चे स्कूल नहीं जाते। बलेशरपुरवा के पड़ोसी गांव में सरकारी प्राथमिक स्कूल था वह भी कई साल पहले बाढ़ में कट गया, जिसके बाद यहां के बच्चों का स्कूल जाना लगभग बंद हो गया।

जयंत बताते हैं- 'हम लोग जब पहली बार यहां पहुंचे थे, तो नाव से आने में 2 घंटे लगे थे, गांव में शायद ही किसी का पक्का घर था। सब घास-फूस और मिट्टी के घर थे। यहां राहत सामग्री बांटने के दौरान की बुजर्गों ने कहा कि अगर आप कुछ कर सकते हैं, तो बच्चों को पढ़ने की व्यवस्था करा दीजिए। जिसके बाद हीलिंग लाइव्स ने यहां गांव के लोगों के सहयोग से अनौपचारिक स्कूल खोला, जिसका नाम ओपन एयर रखा गया। क्योंकि ज्यादातर बच्चे खुले में खेलते कूदते पढ़ने थे।'

हीलिंग लाइव्स ने इसके साथ ही दोनों जिलों में किसानों की बच्चियों को पढ़ने के लिए स्कॉलरशिप भी दी है।

सुभाष शर्मा कृषि फार्म

प्राकृतिक खेती जुड़ी है मानवीय मूल्यों से

औद्योगिक कृषि के परिणाम हमारे सामने हैं। दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात खेती पूर्णतया रसायनों पर आश्रित हो गई है। यह संयोग है कि भारत में अभी भी प्रकृति आधारित खेती के कुछ जानकार मौजूद हैं। आज का बड़ा सवाल यह है कि कृषि की आधुनिक शिक्षा ने भारतीय कृषि को क्या दिया? हमारे अधिकतर कृषि अध्ययन/पठन पाठन केंद्र कमोवेश रासायनिक खेती और संवर्धित बीजों के प्रचार और प्रसार के केंद्र बनकर रह गए हैं। इस वातावरण में भारत में कृषि को लेकर सर्वाधिक कुख्यात विदर्भ के इलाके में श्री सुभाष शर्मा का सजीव प्राकृतिक खेती को लेकर किया जा रहा कार्य बेहद महत्वपूर्ण है। वे कपास की खेती नहीं करते हैं। वे अपने खेत मजदूरों से भाई जैसा व्यवहार कर उन्हें लाभ में हिस्सेदारी भी दे रहे हैं। आशा की किरण जगाती यह कृषि गाथा सिर्फ आदर्श नहीं, बल्कि पूर्णत: व्यावहारिक भी है।

महाराष्ट्र के उत्तर पूर्वी आंचलिक क्षेत्र विदर्भ में स्थित है यवतमाल जिला। यह मूलत: कपास की खेती का क्षेत्र है। यहां से कपास की खेती करने वाले किसानों की लगातार आत्महत्या की खबरें आती रहती हैं। किसान खेती में लगातार असफलता, कर्ज और सूखे के कारण आत्महत्या कर रहे हैं। ऐसी विषम परिस्थितियों के बीच सुभाष शर्मा ने प्राकृतिक खेती से न केवल खुद की खेती सफल बनाई, बल्कि कई किसानों को इसकी प्रेरणा दी, उन्हें प्रशिक्षण दिया और उचित राह दिखाई।

प्राकृतिक खेती को लेकर सुभाष शर्मा जापान के कृषि वैज्ञानिक मासानोबू फुकूओका से प्रभावित हैं। फुकुओका प्राकृतिक खेती के महत्वपूर्ण सूत्रधार व सिद्धांतकार हैं। उनकी किताब 'द वन स्ट्रा रेवोल्यूशन' (एक तिनके से आई क्रांति) दुनियाभर में चर्चा में रही है। उन्होंने इस पद्धति में खेत में कुछ भी उद्यम न करने की सलाह दी थी। इसमें न खेत की जुताई करनी है और न मशीनों की, न रासायनिक उर्वरकों की और न ही कीटनाशकों के छिड़काव की जरूरत पड़ती है, लेकिन सुभाष शर्मा ने अपने अनुभव से इसमें कुछ बदलाव किए हैं। वे अपने खेतों में बैलों से ही जुताई करते हैं। साथ ही बाहरी रासायनिक खाद व कीटनाशकों का इस्तेमाल बिल्कुल नहीं करते एवं जैविक खाद वे खुद तैयार करते हैं।

अपने रासायनिक खेती के अनुभवों के बारे में वे बताते हैं कि 1975 से 1994 तक उन्होंने रासायनिक खेती की। शुरूआत में रासायनिक खेती से अच्छी उपज मिली और आमदनी भी बढ़ी, पर यह आनंद बहुत ज्यादा दिनों तक टिक नहीं सका। 1986 तक आते आते उपज घटने लगी। कपास, जो पहले प्रति एकड़ 12 क्विंटल होता था, उसकी उपज 3-4 क्विंटल पर आकर टिक गई। ज्वार की उपज, जो प्रति एकड़ 20 क्विंटल होती थी, अब 7 क्विंटल के ऊपर नहीं जा रही थी। सब्जियों की उपज लगभग बंद ही हो गई, क्योंकि जमीन में फफूंद फैल गई। मिर्च, बैंगन के पौधे सूख जाते थे। कुल मिलाकर, खेती खर्चीली होती जा रही थी और उपज घटती जा रही थी।

तिउसा में खेती और किसानी पाठशाला

रासायनिक खेती का विकल्प बना पाना एकाएक तो संभव नहीं होता। साथ ही साथ उन्हें यह भी लगा कि क्षेत्र में अकेले ही इस तरह से खेती करने के अनुकूल परिणाम निकल पाना भी कठिन है। इसलिए इसे सामूहिक रूप से गति देने की आवश्यकता है।

यवतमाल जिले में तिउसा गांव में सुभाष शर्मा का 17 एकड़ का खेत है। उसमें से 13 एकड़ जमीन में खेती करते हैं। बाकी 4 एकड़ जमीन गाय और घर के लिए है। यहां खेती करने के अलावा, सभी मजदूर भाई-बहन अपने परिवार के साथ रहते हैं। शर्माजी खुद यवतमाल में रहते हैं, जहां से रोज आते-जाते हैं। यह खेत अब प्राकृतिक खेती प्रशिक्षण और प्रदर्शन केंद्र बन गया है। यहां वे खुद खेती करते हैं और देशभर से आनेवाले किसानों को प्रशिक्षण भी देते हैं। उन्हें खेती के तौर-तरीके सिखाते हैं। एक तरह से किसानों के लिए खेती की पाठशाला लगाते हैं।

यहां किताबें नहीं, बल्कि पूरा खेत, फसलें, कीट, पक्षी, पेड़ पौधे सभी सीखने- सिखाने का माध्यम हैं। गाय, बैल, पशु, पक्षी, पानी, पेड़ पौधे सब यहां के शिक्षक हैं। वे कहते हैं कि पहले उन्होंने रासायनिक खेती की थी, जिससे जमीन की उर्वरक शक्ति क्षीण हो गई, भूजल स्तर नीचे चला गया, देसी बीज खत्म हो गए, फसलचक्र बदल गया और मजदूरों का रोजगार भी खत्म हुआ। जब रासायनिक खेती में ज्यादा खर्च होने लगा तथा रासायनिक खाद, कीटनाशकों के उपयोग और ज्यादा मेहनत करने के बावजूद भी उपज नहीं बढ़ी, तो वह विकल्प तलाशने की ओर बढ़े। उसी समय जापान के कृषि वैज्ञानिक मोसानोबू फुकूओका की खेती के बारे में जानकारी हुई। उन्होंने उनकी खेती की तकनीकें समझीं और उस ओर मुड़ गए। प्राकृतिक खेती करने लगे। उन्होंने सीखा कि इस तरह खेती में प्रकृति को बिना नुक्सान पहुंचाए खेती की जा सकती है। यह पूरी तरह पर्यावरणीय अनुकूल खेती है और यह अहिंसक खेती है। उन्होंने अपने अनुभव, और अवलोकन के आधार पर खेती की कई विधियों को ईजाद किया है। वे मूलतः एक प्रयोगधर्मी किसान हैं।

प्रकृति गुरु बन गई

सन 1994 से उन्होंने जब से प्राकृतिक खेती शुरू की तब से ही निर्माण के विज्ञान की समझ बनी। सजीवों का निर्माण कर खेती करने का हुनर विकसित किया, जबकि रासायनिक खेती में सजीवों का विनाश होता है। उन्होंने समझा कि रासायनिक खाद व जहरीले कीटनाशकों के छिड़काव ने मिट्टी, पानी और हवा को विपरीत प्रभावित किया है। इस प्रक्रिया में मिट्टी को उर्वर बनानेवाले जीवाणु खत्म हो गए। जिन पक्षियों ने खेत का अनाज व सब्जियां खाईं, उनमें से अनेक मर गए। जमीन के नीचे का पानी जहरीला हो गया। एक सामान्य मान्यता के चलते यह सोचा गया था कि चूंकि पेड़ के नीचे फसल नहीं होती है, इसलिए खेतों से पेड़ों को काट डाला, जबकि प्राकृतिक खेती में पेड़, पक्षी, केंचुआ, मधुमक्खी, भौंरे और तितलियों आदि सभी सजीवों की जरूरत होती है। इस तरह की खेती पूरी तरह स्वावलंबी खेती है, जिसमें खेती के सभी मूल आधारों मिट्टी, पानी, हवा, बीज, फसलचक्र और श्रम का यथोचित स्थान है।

वे कहते हैं इसी के साथ हमें खेती को समझने के लिए धरती की संरचना को भी समझना पड़ेगा। धरती पर सृष्टि है। इसे एक खेल 'लगोरी' के जरिए समझें, जिसे हम बचपन में खेलते थे। इसमें एक के ऊपर एक पत्थर जमाते हैं। इसी प्रकार प्रकृति ने पारस्परिक समन्वय के आधार पर सृष्टि की रचना की है। इसमें मिट्टी, पानी, हवा है। पौधे, वृक्ष, वनस्पति हैं। पशु, पक्षी और जीव-जंतु सभी शामिल हैं। इनमें से एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं रहेगा। वे सब एक-दूसरे के पूरक हैं, लेकिन रासायनिक खाद ने इसका संतुलन गड़बड़ा दिया है। वे बताते हैं कि सजीव खेती के लिए मिट्टी, पानी, बीज, फसलचक्र और श्रमशास्त्र पर जोर देना होगा। इसके अलावा परंपरागत व आधुनिक ज्ञान, योजना और मेहनत करने का जज्बा खेती में बदलाव ला सकता है।

प्राकृतिक खेती में मिट्टी की सेहत सुधारना पहला और सबसे महत्वपूर्ण काम है। इसके लिए देसी गाय पालना, पेड़-पौधे लगाना अनिवार्य है। गौरतलब है पेड़ होंगे, तो पक्षी भी आएंगे, कीट नियंत्रण भी होगा और इस सबसे मिलेगी जैव खाद। यही हमारे खेत की मिट्टी को उर्वर बनाएगी।

मिट्टी मृत नहीं, जीवित है

उनका मानना है कि मिट्टी कोई मृत वस्तु नहीं, बल्कि एक जीवित संरचना है। इसमें प्राकृतिक रसायनों के साथ असंख्य जैव पदार्थ हैं। इसमें अनगिनत जीव जंतु, बैक्टीरिया, फफूंद, शैवाल आदि मौजूद हैं। ये जैव पदार्थ या सूक्ष्म जीवाणु मिट्टी में ही पोषित और बढ़ते जाते हैं। सभी मिल-जुलकर चुपचाप निस्वार्थ भावना से अपना-अपना काम करते रहते हैं, जिससे मिट्टी की उपजाऊ क्षमता बनी रहती है। दरअसल, मिट्टी का जीवन उसमें प्रवाहित वायु और जैव पदार्थों की मात्रा पर ही निर्भर करता है। वहां जैव पदार्थों की मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि मिट्टी में वायु की प्रचुरता, जलग्रहण और जलनिकासी ठीक ढंग से हो। मिट्टी में मौजूद ये सूक्ष्म जीव, जैव पदार्थों को गलाकर उसको पौष्टिक मृदा में परिवर्तित कर देते हैं। यह पौष्टिकता संपन्न मृदा ही भूमि की ऊपरी सतह बनाती है और यही जमीन का सबसे उर्वर भाग होता है। संपूर्ण कृषि इसी पर आधारित है। भूमि की उचित देखभाल न होना उत्पादकता की कमी का एक प्रमुख कारण है। इसीलिए मिट्टी को सुधारने के काम को सुभाष शर्मा ने सर्वोच्च प्राथमिकता दी है

गौ-संजीवक खाद बनाने की विधि

मिट्टी की सेहत सुधारने के लिए उन्होंने गो-संजीवक खाद बनाया। इसमें 100 लीटर पानी, 30 किलोग्राम ताजा गोबर, 3 लीटर गोमूत्र, 500 ग्राम गुड को एक बड़े बर्तन या टैंक में मिश्रित कर रखा गया। 10 दिन तक सड़ने के बाद इसका तरल खाद तैयार हो जाएगा। इस तरल खाद को खेत में छिड़कने के बाद जैसे-जैसे जीवाणुओं की तादाद बढ़ेगी वैसे-वैसे जमीन उर्वर बनेगी और ज्यादा उपज होगी। उनके अनुसार शुरूआती वर्षों में एक एकड़ खेत में इससे 10 गुना ज्यादा खाद की मात्रा की जरूरत होगी। फिर अगले वर्षों में क्रमशः इसकी मात्रा कम की जा सकती है। उनके अनुसार रासायनिक खाद के इस्तेमाल से फसल में रोग आते हैं, जबकि जैविक खाद के इस्तेमाल से रोग नहीं आते हैं।

भूमि ढकाव (आच्छादन)

उनके अनुसार अगर हम खेत में भूमि ढकाव (मल्चिंग) या आच्छादन करते हैं, तो तुअर में फल्लियां ज्यादा लगती हैं। उसकी पत्तियां जैव खाद बनाती हैं। जमीन क्रमशः सुधरती जाती है। भूमि ढकाव दो प्रकार से होता है। एक तो फसल के ठंडल या भूसा फैला दिया जाता है। यानी फसल के अवशेष,घास, खरपतवार, भूसा, पत्तियां, टहनियां आदि से भूमि को ढक देना। इससे भूमि की सतह खुली हवा और सूर्य के प्रभाव से सूखने से बच जाती है। इससे नमी का संरक्षण भी होता है और यही बाद में सड़ने से जैव खाद में बदल जाती है। नमी से जो वातावरण तैयार होता है, उसमें सूक्ष्म जीवाणु, केंचुआ, दीमक, कीड़े-मकोड़े आदि की तादाद बढ़ती है। चूंकि भूमि ढकाव के नीचे उनका आश्रयस्थल होता है, अतएव वे इसमें सक्रिय होकर जमीन को पोला, हवादार और उर्वर बनाते हैं। मिट्टी का क्षरण नहीं होता है। मिट्टी में नमी होने से पानी की बचत होती है। मिट्टी में नमी होती है। साथ ही भूजल का भंडार भी बढ़ता है और खरपतवार भी नहीं उगते।

हरी खाद कैसे बनाते हैं?

भूमि की उर्वरता बढ़ाने में हरी खाद का योगदान महत्वपूर्ण होता है। जिस तरह मनुष्य के लिए भोजन में सभी पोषक तत्व चाहिए होते हैं, उसी तरह मिट्टी को भी जरूरी पोषक तत्व चाहिए। हरी खाद से यह मिल जाते हैं। हरी खाद बनाने के लिए 6 किलोग्राम द्विदलीय फसल, यानी मूंग, उड़द, बरबटी, अरहर, 3 किलोग्राम एकदलीय फसल बाजरा, ज्वार, मक्का और 1 किलोग्राम तेल बीज चाहिए। इन्हें एक साथ बो दिया जाता है। इन फसलों को बोने के एक–डेढ़ माह बाद फसल के थोड़ी बड़ी होने पर इन्हें काटकर मिट्टी में दबा देते हैं, जिससे मिटटी को अच्छी खाद मिलती है। इससे सूक्ष्म जीवाणु, केंचुआ, कीड़े-मकोड़े पैदा हो जाते हैं। वे जमीन को छिद्रित, पोला और पानीदार बनाते हैं। ये सब मिलकर जमीन को उपजाऊ और ताकतवर बनाते हैं, जिससे फसल अच्छी होती है।

खेत में हैं लगे हैं दो सौ पेड़

जलवायु बदलाव से बचने के लिए पेड़ लगाना जरूरी है, क्योंकि इनकी तापमान नियंत्रण करने में अहम भूमिका होती है। उन्होंने अपने खेत में 200 पेड़ लगाए हैं। यहां पीपल, आम, नींबू, नीम, जामुन, इमली, कटहल, उमर, गूलर, बरगद, अर्जुन, करौंदा इत्यादि के पेड़ हैं। पेड़ों के फूलों पर मधुमक्खियां आती हैं और वे परागीकरण में मदद करती हैं। हवा भी इस प्रक्रिया में सहायक है। कई तरह की चिड़ियाओं का पेड़ों पर बसेरा होता है। पक्षी कीट नियंत्रण भी करते हैं। फसलों के मित्र कीट आते हैं। इनका भोजन कीट इल्लियां हैं। पेड़ों से वातावरण में शीतलता होती है, जो फसलों के लिए जरूरी है। सुभाष शर्मा बताते हैं कि पहले मेथी जैसी कम तापमान में होने वाली फसलें मार खा जाती थीं, अब मेथी की फसल अच्छी होती है। पेड़ों की पत्तियां, चिड़ियों व कीटों के अपशिष्ट आदि के गिरते रहने के कारण मिट्टी में सूक्ष्मजीवों, केंचुआ, जीवाणु पनपते हैं, जो मिट्टी को उर्वर बनाते हैं। छिद्रित जमीन होने के कारण भूजल स्तर भी बढ़ता है। इस वजह से उपज बढ़ रही है। पेड़ भी इस तरह से लगाए कि एक पेड़ की छांव दूसरे पेड़ पर गिरे। पेड़ हवा का स्रोत होते हैं। उनकी अभी 200 पेड़ और लगाने की योजना है।

खेत का पानी खेत में

खेत का पानी खेत में ही रुके, इसका प्रबंधन जरूरी है। औद्योगिकीकरण और रासायनिक खेती के कारण तापमान लगातार बढ़ रहा है। इससे जमीन के ऊपर का तापमान तो बढ़ा ही साथ ही जमीन के अंदर का तापमान भी बढ़ने लगा। यानी जमीन शुष्क हो गई। अब बारिश में भी जमीन के अंदर पानी नहीं जाता है, क्योंकि ऐसे करोड़ों सूक्ष्म जीवाणु, जो जमीन को छिद्रित कर पोला बनाते थे, वो मर गए। इससे जमीन के भीतर पानी का रिसाव बंद हो गया और जमीन के अंदर का पानी भी काफी हद तक समाप्त हो गया। इस कारण कई प्रजातियां व वनस्पतियां नष्ट हो रही हैं। इससे फसलें भी प्रभावित हो रही हैं।

इस परिस्थिति से उबरने के लिए वे कम पानी वाली फसलें लगाते हैं। प्राकृतिक सजीव खेती से भी पानी का संचय होता है। इसके साथ ही वे ग्रिड लॉकिंग, माइक्रो लॉकिंग और कंटूर फार्मिंग से बारिश के पानी को खेत में रोकते हैं। ढालू जमीन वाले खेतों में कंटूर के माध्यम से पानी खेत में रोका है। यहां एक चौड़ी नाली भी खोदी गई है जिससे पानी और मिट्टी रोकने का प्रबंध किया है। इससे हमेशा नमी बनी रहती है और भूजल का भंडार बढ़ता है। यहां के कुओं में सालभर पानी रहता है। ध्यान देने योग्य है कि यह सूखा प्रभावित क्षेत्र है इसके बावजूद इनके खेत में बाहर से पानी लाने की जरूरत नहीं पड़ती है। पानी के प्रबंधन से ही पैदावार बढ़ाने में कामयाबी हासिल की।

देसी बीजों की खेती

सुभाषजी अपने खेत में देसी बीजों से ही खेती करते हैं। वे कोई भी बीज बाजार या कंपनियों से नहीं खरीदते। उनके पास पीढ़ियों से विकसित देसी बीज हैं। इन बीजों को उन्होंने कई जगह से एकत्र किया है और कुछ खुद विकसित भी किए हैं। देसी बीज स्थानीय मिट्टी, पानी और हवा के अनुकूल होते हैं। इसके अलावा उनमें प्रतिकूल परिस्थितियों में पकने की क्षमता होती है। वे ऋतु से संचालित हैं, उनके नाम भी उसी के अनुसार होते थे। इसका उदाहरण देते हुए सुभाष शर्मा फूल गोभी के बीजों के नाम बताते हैं- कुवाई (क्वार), कार्तिक, अगहन, पुसी (पौष या पूस), माघी (माघ)। यह सब हिंदी महीनों के नाम हैं। इसी प्रकार धान, गेहूं, बैंगन आदि बीजों के नाम भी उनके गुणधर्मों व पहचान के आधार पर हैं। ऋतु से संचालित देसी बीजों की खास बात है कि उन्हें चाहे देरी से भी बोया जाए, पर फसल समय पर ही आएगी। इन बीजों को बाजार या कंपनियों से खरीदने की जरूरत नहीं है। ये किसानों के खुद के हैं, जो अब लुप्त हो रहे हैं। ज्ञातव्य है भारतीय पारंपरिक खेती में किसान हमेशा से ही अपना बीज रखते थे।

अनाज, फल, मसाले और सब्जियों की खेती

हमने प्रश्न किया कि इस साल खेत में क्या बोया है? इसके जवाब में सुभाष शर्माजी ने लंबी सूची सामने प्रस्तुत कर दी। वे बोले इस वर्ष- चना, अरहर, मूंग, सोयाबीन, हल्दी, अदरक, चिउला फल्ली, भिंडी,कद्दू, मेथी, धनिया, प्याज, टमाटर, केला की खेती की गई। अरहर की छाया में हल्दी लगाते हैं। साथ ही बाजार में फसल के दाम अच्छे मिले,

इसकी रणनीति बनाते हैं। जैसे- केले को खुद भट्टी में पकाकर बेचते हैं, कच्चे नहीं बेचते। अमाड़ी की पंखुड़ियों को बेचते हैं। वे सब्जियां भी लगाते हैं, क्योंकि बाजार में इनका अच्छा भाव मिल जाता है।

उनका मानना है कि खेती विज्ञान हैं, कोई जादू-टोना नहीं हैं। शुरूआत में वे भी इसके विज्ञान व तकनीक के बारे में ज्यादा नहीं जानते थे। लेकिन धीरे-धीरे अनुभव और सूक्ष्म अवलोकन ने बहुत कुछ सिखा दिया। उनका कम खर्च में ज्यादा उत्पादन पर जोर रहा है और बाजार में अच्छे दाम मिले यह कोशिश रहती है। अच्छे जैविक उत्पाद के साथ बाजार की मांग व बिक्री के कौशल से अच्छे दाम मिलते हैं। इस वजह से उनका खेती में मुनाफा क्रमशः बढ़ रहा है। अब 25 लाख का सालाना कारोबार है। शुद्ध मुनाफा तो 13 लाख रुपए तक पहुंच गया है। वे बताते हैं कि वर्ष 2008-09 में जब सूखा पड़ा था तब 25 प्रतिशत उत्पादन कम हुआ लेकिन फिर भी लाभ ही हुआ। उनका मानना है कि प्राकृतिक खेती में लाभ ही होता है, घाटा नहीं।

मजदूरों को बोनस देते हैं

धरती के प्रति कृतज्ञता दर्शाते हुए वे कहते हैं कि धरती मां से जितना मैंने चाहा उन्होंने उससे ज्यादा दिया। पूरा लाभ मैं खुद नहीं रखता हूं, बल्कि जो मजदूर मेहनत करते हैं, एक हिस्सा उनको भी देता हूं। इस खेती में सतत् मेहनत की जरूरत पड़ती है। अभी उनके खेत पर 40 महिला पुरूष (वे इन्हें भाई-बहन कहते हैं) काम करते हैं। जिन्हें सालभर खेत पर काम मिलता है। इसलिए मजदूरों को बोनस देते हैं। इस लिहाज से वे देश में शायद बिरले किसान होंगे, जो अपने मजदूरों को न केवल बोनस देते हैं, बल्कि उन्हें हर साल तीर्थयात्रा पर भी ले जाते हैं। अब तक वे उन्हें पचमढ़ी, वैष्णो देवी, सोमनाथ सहित चारों धाम की यात्रा करवा चुके हैं। मजदूरों के लिए भी यह एक अनूठा अनुभव है।

मजदूर आत्मनिर्भर हो गए

सुभाष शर्माजी ने बताया कि मजदूरों के खातों में पर्याप्त राशि (3-4 लाख रुपए तक) जमा है, जिससे वे उनकी जरूरत पूरी कर लेते हैं। जब देश में किसान कर्ज में डूबे हुए हैं, तब प्राकृतिक खेती से मजदूर तक आत्मनिर्भर हो जाए, यह बहुत उल्लेखनीय बात है।

एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि यहां पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं को अधिक मजदूरी दी जाती है। इसका कारण पूछने पर वे बताते हैं कि महिलाओं बहुत सुबह 5 बजे जाग जाती हैं। घर का सभी कार्य करती हैं। घर में झाड़ू लगाती हैं, खाना पकाती हैं, बर्तन मांजती हैं और फिर काम पर आती हैं। पुरुष यह सब काम घर में नहीं करते। यानी महिलाएं ज्यादा काम करती हैं, इसलिए उन्हें ज्यादा मजदूरी दी जाती है। मजदूरी श्रम पर आधारित होनी चाहिए।

कुल मिलाकर, यह कहा जा सकता है कि सजीव खेती के इस प्रयोग से उत्पादकता बढ़ी, आमदनी बढ़ी, मुनाफा हुआ और रोजगार का सृजन हुआ। यहां न केवल मजदूरों को सालभर काम मिला बल्कि बोनस भी मिला, वे पूरी तरह आत्मनिर्भर हो गए। खेती में लागत कम हुई है। यह श्रम व प्रकृति आधारित खेती है, पूंजी आधारित नहीं। इसके

साथ ही मिट्टी-पानी का संरक्षण हुआ, जो आज बहुत जरूरी है। जलवायु बदलाव के दौर में प्राकृतिक खेती का महत्व और भी बढ़ जाता है। खेतों में पेड़ों से तापमान नियंत्रण में यहां सफलता मिली है। इतना ही नहीं लुप्त होते देसी बीजों का संरक्षण व संवर्धन हुआ है। इससे देसी बीजों की धरोहर के साथ उसके साथ जुड़े पारंपरिक कृषि ज्ञान का भी संरक्षण होता है। यह टिकाऊ, आत्मनिर्भर व पर्यावरणीय खेती है। आत्मनिर्भर का मतलब, बीज घर का, गो संजीवक खाद घर का, तकनीक अपनी। इसलिये यह मेहनत अपनी पूरी तरह स्वावलंबी व आत्मनिर्भर खेती है।

इससे एक और बात समझी जा सकती है कि अगर हमें अनाज की उत्पादकता बढ़ानी है, तो मिट्टी-पानी का संरक्षण जरूरी है, इसके बिना यह संभव नहीं है। इस प्राकृतिक खेती में सामाजिक जिम्मेदारी का बोध भी है कि प्राकृतिक संसाधनों का मनुष्य मालिक नहीं है, बल्कि संरक्षक है और इन्हें भावी पीढ़ियों के लिए भी सुरक्षित करना है। प्राकृतिक खेती में मिट्टी- पानी, देसी बीज, पर्यावरण न केवल सुरक्षित हैं बल्कि उनका निर्माण व सृजन भी होता है।

सजीव या प्राकृतिक खेती एक संपूर्ण जीवन पद्धति है। जब हम विनाशक खेती के स्थान पर सजीव खेती करते हैं, तो उसके साथ हमारा आहार भी बदल जाता है। इससे समाज और जीवनमूल्य भी बदलेंगे। इस खेती में मानव की भूख मिटाने के साथ समस्त जीव-जगत के पालन का विचार भी निहित है। हमें समझना होगा कि प्रकृति की ओर लौटना ही हमारी सभ्यता को बचाए रख सकता है। श्री सुभाष शर्मा का एकाकी प्रयत्न अब बहुत से किसानों का भी सपना बन गया है। प्रदूषित होती प्रकृति को बचा पाने में कृषि की पारंपरिक विधियां सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं।

ग्राम सेवा मंडळ, गोपुरी.
(स्थापना-१९३४)
मध्यवर्ती कार्यालय

ग्राम सेवा मंडल

जादुई शक्ति के पीछे का विज्ञान

यदि आप जाड़े के दिनों में करुणा ताई से मिलने जाएंगे, तो आपकी मुलाकात निश्चित रूप से धूप सेंकते हुए एक दादाजी से होगी, जिनके पास अत्यंत तीखे सवाल रहते हैं। यहां कोई बिल्ली आपकी गोद में बैठ जाएगी, कुत्ते धीमी आवाज में भोंकते मिलेंगे, मानो यहां की शांति भंग करने के लिए शर्मिंदा हों। एक लंबा व्यक्ति बड़-बड़े कद भरता हुआ आपके बाजू से निकलता है, जिसके हाथ में दूध खरीदने का बर्तन है या शायद वह चाय-पत्ती खरीदने जा रहा हो। वह आप पर बिल्कुल ध्यान नहीं देता। वे वसंत दादा हैं, अपने ही खयालों में खोए हुए।

उस पुराने घर में ताई अत्यंत खामोशी से भोजन, बही-खातों और मुलाकातों की व्यवस्था बना रही हैं। ताई, विनोबा भावे द्वारा सन 1934 में स्थापित ग्राम सेवा मंडल की अध्यक्ष भी हैं और वह नागपुर में एक बैठक की तैयारी में लगी हैं। बिल्ली तथा घर के लोग इस बात को लेकर बेचैन हैं कि करुणा ताई कुछ दिनों तक यहां नहीं होंगी। ताई विनम्रतापूर्वक मुस्करा कर कहती हैं- 'हमें चलते रहना होता है। हमें एक रुटीन रास नहीं आता। चुनौतियां हमें चलने के लिए प्रेरित रखती हैं...'

हम पिछली रात यहां आए थे। वसंत दादा ने कहीं और रुकने के हमारे विचार को सिरे से खारिज कर दिया। उन्होंने कहा- 'पैसे और ईंधन दोनों की बरबादी!' यह इस युगल के साथ हमारे जुड़ाव की शुरूआत थी, जहां हमने खाना पकाने, खाने को लेकर ढेरों बातें कीं, मिलकर साफ-सफाई की और जाजू फार्म्स का भ्रमण भी किया। दोनों अत्यंत सक्षम वैज्ञानिक-शोधकर्ता-व्यवसायी हैं, जिन्होंने चार दशक से अधिक समय जैविक खेती को एक विज्ञान के रूप में समझने और प्रयोग करने में बिता दिया। उनके जीवन भर का उद्यम अब एक फलते-फूलते फार्म के रूप में हमारे सामने है, यह उनके बच्चों समेत अन्य लोगों के सीखने के लिए एक प्रयोगशाला भी है।

ग्राम सेवा मंडल: कताई और खादी को जीवन शैली के रूप में प्रोत्साहन

सुबह-सुबह परिसर में जिनिंग मिलों (वह मशीन जो कपास के धागों से बीज, छिलकों और अन्य छोटी-मोटी चीजों को अलग करती है) की धीमी आवाज सुनी जा सकती है। वर्कशॉप में हमें 'कपास से कपड़ा' बनाने की प्रक्रिया सीखने को मिली। कामगारों की सहायता से चलने वाली बड़ी मशीनें कपास की गठानों को निकालती हैं, जिन्हें कातकर धागा बनाया जाता है, जिसे हथकरघे में इस्तेमाल किया जाएगा। अत्यंत सतर्कतापूर्वक और समन्वय के साथ पूरी की जाने वाली इस प्रक्रिया में आसपास के समुदायों की महिलाओं को भी शामिल किया जाता है। यहां से तैयार होने वाले उत्पाद दुकान में उपलब्ध हैं। परिसर में एक कोल्ड प्रेस तेल मिल भी है, जहां हमने नारियल, मूंगफली और तिल का तेल निकलते देखा। यह मशीनों और मनुष्यों का करीबी तालमेल है, जो अत्यंत शुद्धता के साथ काम करता है। वरिष्ठ कारीगर बॉक्स चरखा के विभिन्न हिस्से तैयार करते हैं, जो दरअसल मूल चरखे का ही संशोधित संस्करण है। इस इकाई के न केवल भारत में, बल्कि विदेशों में भी प्रतिबद्ध ग्राहक हैं। करुणा ताई के बैठने की जगह पर भी एक मशीन चरखा है। विनोबा भावे के आश्रम में उनकी छत्रछाया में पली बढ़ी करुणा ताई याद करती हैं- 'वह सामाजिक कार्यकर्ता से अधिक संत थे। संस्था, आसपास के गांवों की महिलाओं को कताई के काम में जोड़ती आई है। आज वे कम से कम इतनी कमाई कर लेती हैं कि सब्जियां और अन्य जरूरी चीजें खरीद सकें। पहले वे इसके लिए भी तरसती थीं। कई महिलाएं तो ऐसी हैं, जिनके बच्चे बड़े हो गए हैं और वे नौकरीशुदा हैं, लेकिन वे अब भी कताई करती हैं। हमारे और उनके लिए चरखा कातना जीवनशैली का हिस्सा है। हमारे साथ 103 महिलाएं काम करती थीं, लेकिन कोविड-19 की अवधि में उनकी तादाद तेजी से कम हुई और हमारी इकाई को नुक्सान भी हुआ।'

सन 1929 में जब विनोबा भावे यहां आए, तो उन्हें पता चला कि महिलाओं को बहुत कम मेहनताना मिलता है। मेहनताना बढ़ाने संबंधी किसी भी बात का जमकर विरोध होता था। अगले छह महीनों तक विनोबा ने रोज 8 घंटे तक कताई की और वही भोजन किया, जो उस मेहनताने में संभव था। वह हड्डियों का ढांचा बनकर रह गए! उन्हें यह बात समझ में आ गई कि इतने मेहनताने में लोगों का आजीविका चलाना संभव नहीं था। यहीं से कताई उद्योग के विकास की राह सुनिश्चित हुई। बाद में चरखे को लेकर शोध और विकास कार्य शुरू हुए और काम की गुणवत्ता और गति को बेहतर बनाने के लिए नए मॉडल बनाए गए। स्वतंत्रता के बाद वर्धा खादी का केंद्र बन गया। सन 1953 के आसपास, कुछ लोगों ने एकजुट होकर सामुदायिक आजीविका मॉडल तैयार किया। उन्होंने साथ रहकर अन्न उगाना और काम करना शुरू किया तथा पैसे के न्यूनतम इस्तेमाल के साथ स्थायित्व भरा जीवन जीना शुरू किया।

बाद में वसंत दा और करुणा ताई समेत कई लोग सर्वोदय आंदोलन की युवा शाखा तरुण शांति सेना में शामिल हो गए। यह युगल बदलाव, समुदायों के साथ काम करने और अपना नेतृत्व विकसित करने के स्वप्न के साथ वापस आया। इस बीच संगठन भी

फला-फूला, लेकिन विनोबा ने कहा- 'केवल उत्पादन नहीं- बल्कि प्रयोग भी करना है और दिखाना भी है। शहर लोगों का जीवनरस छीन रहे हैं। हमारी कोशिश होनी चाहिए कि हम लोगों को अपना भोजन स्वयं उगाना सिखाएं।' उनके निधन के बाद ग्राम सेवा मंडल की स्थिति खराब हुई। खासतौर पर तब, जब सरकार ने खादी आयोग का अधिग्रहण कर लिया। सामाजिक कार्यकर्ता सरकारी कर्मचारी बनकर रह गए। धीरे-धीरे एक तयशुदा ढर्रा बन गया और गिरावट घर कर गई। सन 2009 में करुणा ताई वर्धा आईं और उन्होंने ग्राम सेवा मंडल के काम में नई जान फूंकने का जिम्मा लिया।

करुणा ताई कहती हैं- 'यहां कई मामले चल रहे थे। भूमाफिया हमारे पीछे पड़ा था, क्योंकि यह बहुत मौके की जमीन थी। कर्मचारियों की स्थिति बहुत खराब थी। मुझ पर आरोप था और अब भी है कि मैं अच्छी प्रशासक नहीं हूं। ऐसा इसलिए, क्योंकि मैं अपने कर्मचारियों को अपना परिवार मानती हूं। यहां कोई बॉस नहीं है। कई युवा यहां नए और बेहतरीन विचार लेकर आते हैं। हम उनका स्वागत करते हैं और उनके साथ मिलकर काम करते हैं, लेकिन या तो उनकी रुचि समाप्त हो जाती है या फिर वे उनके कुछ स्वार्थ पैदा हो जाते हैं। हम युवाओं को जैविक खेती से जोड़ने का अपना काम जारी रखे हुए हैं।'

वसंत दा खुद को किसी विचारधारा से जोड़े जाने को नकारते हैं। वह कहते हैं- 'मैंने बाबा आम्टे, जय प्रकाश नारायण और गांधीवादी विचारधारा के लोगों द्वारा आयोजित कई शिविरों में भी हिस्सा लिया है। सन 1968-70 में विनोबाजी भी यहां थे और अच्युत देशपांडे भी। हम उनसे सीखे हुए विचारों के प्रचार में लगे रहे। विनोबा के झंडा सत्याग्रह के बाद हमारे साथी कार्यकर्ताओं ने चर्मालय जैसे पथ प्रवर्तक संगठन स्थापित किए, जहां उन्होंने मृत पशुओं का चमड़ा निकालने का काम शुरू किया। सामाजिक सांस्कृतिक रूप से यह काम 'निचली जातियों' पर थोपा गया था। लगभग उसी समय ग्राम सेवा मंडल जैसे अन्य संस्थानों की स्थापना की गई, जिन्होंने ऐसे कार्यकर्ता तैयार किए, जो उस दौर के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक मानकों को चुनौती दे सकें।' इसका शीर्ष समय तब था, जब विनोबा पवनार में रहे और गांधी ने अपने अंतिम 12 वर्ष वर्धा में बिताए।

करुणा ताई कहती हैं- ‘उद्योगपति जमनालाल बजाज ने इन पहलों के लिए जमीन दान में दी। विनोबाजी एक कार्यकर्ता से अधिक संत थे। उन्होंने इन पहलों के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया और फिर स्वयं बाहर हो गए। खादी और ग्रामोद्योग मंत्रालय में कांग्रेस की संस्कृति ने काम करने की संस्कृति को नष्ट कर दिया। पहले यह जन-केंद्रित संगठन था, जो बाद में सरकार को सौंप दिया गया। विचार मर गया है और केवल खादी की मोहर शेष है...’

डॉ. जाजू फार्म्स: मृदा संरक्षण के तरीकों का प्रदर्शन

डॉ. जाजू के पांच एकड़ में फैले हरे-भरे फार्म पर सौर ऊर्जा से संचालित इलेक्ट्रिक गेट ने हमारा स्वागत किया। डॉ. जाजू फुटाने परिवार के करीबी मित्र हैं और उन्होंने यह भूमि जैविक खेती के लिए दी है। वसंत दा ने पिछले चार वर्ष यहां जैविक खेती की तकनीक के प्रयोग करते हुए बिताए हैं। वह हमें रवाला फार्म्स की तस्वीरें और दस्तावेज दिखाते हैं। उन्होंने रवाला फार्म्स पर ही प्रशिक्षण प्राप्त किया। समोच्च रेखण करना, बांध बनाना, हवा रोकने के लिए वृक्षों का इस्तेमाल, सिंचाई की प्रक्रिया, मृदा संरक्षण, पौधों की नई किस्मों की तलाश, मिट्टी की नमी बनाए रखना, जैविक खाद का इस्तेमाल आदि कुछ आजमाई हुई तकनीक हैं।

वसंत दा कहते हैं- ‘छह इंच तक की सबसे ऊपरी मृदा को ‘मलाई’ कहा जाता है। 4-6 इंच का यह क्षेत्र सबसे महत्वपूर्ण होता है। नीम जैसे विशालकाय वृक्ष की वृद्धि के लिए भी 5-6 इंच की ऊपरी मिट्टी सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है, परंतु मृदा का यह सबसे ऊपरी स्तर हर बारिश के साथ धुल जाता है। आप खेत को जितना जोतेंगे, मिट्टी की ऊपरी परत का उतना ही नुक्सान होगा। समोच्च रेखण से कुछ हद तक मृदा क्षरण रोका जा सकता है। इसके लिए खेत की भौगोलिक स्थिति को समझना महत्वपूर्ण है। यदि खेत 3 फीसदी ढलवा है (100 मीटर के आकार में तीन फीट की ढलान), तो आप आधा-आधा मीटर पर लंबवत समोच्च आकृतियां बना सकते हैं। एक किसान कुछ दिनों में यह तकनीक सीख सकता है।’

जाजू फार्म में वसंत दा द्वारा यह तरीका अपनाए जाने के बाद चौथा वर्ष चल रहा है। कुछ किसान इस बात को लेकर सचेत हैं कि खेतों से मिट्टी को नहीं बहने देना है, परंतु सबसे ऊपरी स्तर की मिट्टी हमेशा नीचे की ओर बह जाती है और खेत के निचले सिरे पर जमा हो जाती है। यह वैसा ही है, जैसे कि इथोपिया और कैलिफोर्निया एक ही जमीन पर हों! पुश्ता बांधने से भी मिट्टी की नमी बरकरार रखने में सहायता मिलती है और उत्पादन सुधरता है। वर्षा जल का जमीन में रिसाव भी अच्छी तरह होता है। इसे सिटु रेनवाटर हार्वेस्टिंग (वर्षा जल संरक्षण) भी कहा जाता है। बहते पानी का बहाव कम किया जाता है, बहते जल का संरक्षण करना होता है। यह बहुत उपयोगी तकनीक है और इसका क्रियान्वयन मध्य प्रदेश के बुंदेलखंड क्षेत्र में किया जा सकता है उन जगहों को छोड़कर, जहां धान की खेती होती है। यदि हम इस तरीके को अपनाते हैं, तो हमारा फसल उत्पादन पहले ही वर्ष से बढ़ने लगेगा।'

हमने यही सीखा है कि सही समय पर और सही मात्रा में मिट्टी में नमी की मात्रा बेहतर उत्पादन के लिए पानी से भी अधिक आवश्यक है। वसंत दा और उनके मित्रों ने विदर्भ क्षेत्र के कई किसानों को प्रशिक्षित किया है और दो दिन के प्रशिक्षण के उपरांत, उन्हें इस तरीके को अपनाने के लिए तैयार किया है। जब पानी फाउंडेशन ने इस तरीके को अपनाया, तो पूरे गांव ने देखा कि पेयजल की गुणवत्ता में सुधार हुआ और फसलों का उत्पादन भी सुधरा। जो किसान पहले किलो में उत्पादन की बात करते थे, उन्होंने क्विंटल में उत्पादन की चर्चा करनी शुरू कर दी।

हमारे यह पूछने पर कि क्या जमीन का समतलीकरण, समोच्चीकरण का विकल्प है, वसंत दा कहते हैं- 'समतलीकरण करने से स्थलाकृति प्रभावित होती है! समतलीकरण महंगा पड़ता है, इसमें बहुत बड़े पैमाने पर जीवाश्म ईंधन का इस्तेमाल भी करना पड़ता है। ऐसा करने से जमीन का सबसे उर्वर हिस्सा, जो शीर्ष पर होता है वह अस्त-व्यस्त हो जाता है। इसके साथ ही आपको सतह का काफी हिस्सा गंवाना पड़ता है। ऐसे में बेहतर है कि उसे प्राकृतिक रूप में रहने दिया जाए।'

जब हम यह पूछते हैं कि पारंपरिक खेती में अहम माने जाने वाले बैल क्या जुताई के दौरान समोच्च मेढ़ों से गुजरकर अपना काम कर लेंगे, तो वसंत दा हमारे इस प्रश्न पर मुस्कराते हैं और कहते हैं- 'जानवर बहुत बुद्धिमान होते हैं। वे जमीन को हमसे और आपसे कहीं अधिक बेहतर समझते हैं। एक बार जब आप एक रेखा खींच देते हैं और उन्हें उससे गुजारते हैं, तो बाद में वे उन्ही लाइनों का अनुसरण करते हैं। इससे सिंचाई की व्यवस्था भी बेहतर होती है, क्योंकि पानी तेजी से बहने के बजाय धीमी गति से बहता है और उसका वितरण समान होता है। हमारे एक मित्र सुभाष शर्मा ने सबसे ऊपरी हिस्से पर टमाटर और नीचे पालक लगाई। पहले टमाटर की फसल तैयार हुई और बाद में पालक तैयार हुई। मिश्रित फसल से पानी की बचत होती है। किसान को भी यह आश्वस्ति रहती है कि कम से कम एक फसल उसे प्राप्त होगी।'

'कुछ समय से हम भारी बारिश का सामना कर रहे हैं। ऐसे समय में हमें समुचित नाली व्यवस्था की आवश्यकता होती है। हमने एक ऐसी व्यवस्था विकसित की है, जहां पूरा अतिरिक्त वर्षा जल नालियों के माध्यम से कुएं के करीब एक गड्ढे में पहुंचता है और

कुंए का पुनर्जलीकरण (रीचार्ज) करता है। हमारे खेतों में अधिकांश काम जल संरक्षण से संबंधित है।' बढ़ते वैश्विक तापमान के बारे में वसंत दा कहते हैं- 'अब यह किसानों का दायित्त्व है कि वे ज्यादा वृक्ष लगाएं और वैश्विक तापमान को कम करने में योगदान करें। नीम जैसे वृक्षों को किसानों के लिए 'कल्पवृक्ष' का नाम दिया गया है। नीम के पेड़ के नीचे छाया होने के बावजूद फसल बहुत अच्छी होती है।'

सीमांत पर लगे वृक्षों की ओर संकेत करते हुए वसंत दा कहते हैं- 'ये वृक्ष उत्तर और पश्चिम की ओर से चलने वाली तेज हवाओं को रोकने का काम करते हैं। ये तेज हवाएं फसल को नुक्सान पहुंचाती हैं, खासतौर पर फलों के वृक्षों को। इसके अलावा ये वाष्पीकरण की वजह बनती हैं, जिससे पानी की खपत बढ़ती है। इसलिए हम विभिन्न स्तरों पर तीन श्रेणियों में वृक्षारोपण करते हैं। पत्तियों का इस्तेमाल खाद बनाने में किया जाता है। यह जमीन को ढक लेती है और मिट्टी की नमी और गर्माहट बरकरार रहती है तथा केंचुओं आदि के जरिए वानस्पतिक खाद बनने की गति तेज होती है। आदर्श स्थिति में जैविक सामग्री को न्यूनतम एक फीसदी के स्तर पर रखना होता है। हमारे खेतों में चार वर्ष के काम के बाद यह दो फीसदी तक हो सकती है। किसानों को खेतों से निकले अपशिष्ट को भी जलाना या फेंकना नहीं चाहिए।' आदर्श स्थिति में अधिकांश बायोमास अर्थात जैव संहति वापस मिट्टी में जाना चाहिए। आज व्यापक उत्पादन के बावजूद हमें बायोमास अधिक मिल रहा है और अनाज कम। इतना ही नहीं, किसानों को तिलहन जैसी प्रमुख फसल के लिए एमएसपी नहीं मिल रहा है। किसान कैसे बचेगा? नीतियों में खामी है...

हमारी बातचीत में फुकोक्वा के 'वन स्ट्रॉ रिवॉल्युशन' का भी जिक्र आता है। वसंत दा कहते हैं- 'यह किसानों के लिए बाइबिल के समान है! यह एक ऐसा दस्तावेज है, जिससे दृष्टिकोण निर्मित होता है। मृदा संरक्षण को वर्षा जल संरक्षण और हवा के प्रबंधन से जोड़ना संभव है। पर्यावरण बचाने के नारे लगाने से कुछ नहीं होगा। अब वक्त आ गया है कि पहल की जाए। मेरा प्राथमिक दायित्त्व है पृथ्वी को बचाना, जल संरक्षण करना।'

वसंत दा जोर देकर कहते हैं कि दो-तीन एकड़ से कम रकबे वाले सीमांत किसानों के पास अगर अच्छी जमीन और सिंचाई की सुविधा हो, तो वे आसानी से जैविक खेती को अपना सकते हैं, परंतु महाराष्ट्र जैसे इलाकों में जहां वर्षा बहुत कम होती है, वहां अच्छी जैविक खेती के लिए लगभग 120 एकड़ जमीन की आवश्यकता है। वे कहते हैं- 'नकदी फसलों के कारण जमीन की गुणवत्ता खराब हुई है और कीटनाशकों का इस्तेमाल बढ़ा है। यदि वार्षिक अथवा बारहमासी फसलों के साथ फसल चक्र लंबी अवधि में बरकरार रखा जाए, तो जमीन की उर्वरता बरकरार रह सकती है। अंतर्फसली व्यवहार से भी मदद मिल सकती है। हल्दी, अदरक, याम (कंद की एक किस्म) जैसी फसलें बड़े पेड़ों की छाया में भी आसानी से उग सकती हैं।'

चूंकि जाजू फार्म निजी परिसंपत्ति है इसलिए ऐसे लोगों में भी इसे लेकर रुचि उत्पन्न होती है, जो यह जानना चाहते हैं कि निजी किसानों के लिए जैविक खेती करना व्यावहारिक है या नहीं। वसंत दा पूछते हैं- 'क्या आपको यहां पौधों में कोई कमजोरी नजर आती है? वे एकदम स्वस्थ हैं। हमें किसी रसायन की जरूरत नहीं है... हर चीज का ध्यान गाय के गोबर और गोमूत्र के माध्यम से रखा जाता है। हर किसान को एक अच्छी गोशाला बनानी चाहिए, ताकि गोमूत्र को एक जगह संग्रहीत किया जा सके। गोमूत्र, गोबर से भी ज्यादा कीमती है। सरकार को चाहिए कि वह गोशाला बनाने में किसानों की सहायता करे और बदले में उनसे गोमूत्र खरीदे। किसान पहले ही यूरिया खरीदने पर इतना खर्च कर रहे हैं। यूरिया की कोई आवश्यकता ही नहीं है!'

एक जगह हमें तुअर दाल के पौधे दिखे, जो फलियों से लदे हुए थे। वसंत दा कहते हैं- 'ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि हमने मिट्टी को मजबूत किया। आप देख सकते हैं कि फलियों के भार से ये पौधे झुक गए हैं! मुझे इनके बीज राजस्थान के किसानों से मिले।' हमें कुछ चेरी टमाटर भी नजर आए। वसंत दा कहते हैं- 'ये चेरी टमाटर का बड़ा रूप है। इनमें कभी कीड़े नहीं लगेंगे। यह अमृत जल का कमाल है, जो गाय के गोबर और गोमूत्र से बनता है।'

केरल के टैपिओका भी यहां देखने को मिलते हैं। वसंत दा कहते हैं- 'दूसरे राज्य का होने के बावजूद यहां यह अच्छी तरह फल-फूल रहा है।' वहां कर्नाटक की एक किस्म के बड़े आकार के बैंगन भी देखने को मिले। वसंत दा कहते हैं- 'यदि 20-25 किसान मिलकर एक खास किस्म के अनाज की खेती करें, तो पक्षियों और मनुष्यों को भी उनका हिस्सा आसानी से मिलेगा। यदि ऐसा नहीं किया गया, तो किसी एक किसान के लिए पक्षियों को फसल से दूर रखना हमेशा मुश्किल रहेगा।'

वसंत दा थोड़ी मिट्टी खोदकर हमें दिखाते हैं- 'देखिए चार महीने पुराना बायोमास कचरा धीरे-धीरे मिट्टी में बदल रहा है, केचुए इसे ऊपर ला रहे हैं। यदि आपको मिट्टी के बारे में जानना है, तो आपको कक्षाओं को छोड़कर खेतों में आना होगा! यहां 4-5 वयस्कों का परिवार काम कर सकता है, कमा सकता है और इस खेत के जरिए जीवनयापन कर सकता है।'

प्याज, संतरे और मौसंबी के पौधे भी अच्छी तरह पनप रहे हैं। मेथी के पौधों वाले हिस्से को बीज तैयार करने के लिए रखा गया है। सरसों अपने आप पनप रही है। आलू, पत्ता गोभी, चुकंदर, फूल गोभी, बींस, मुनगा (ड्रमस्टिक), केले की तीन प्रजातियां और शेवरी घास भी अच्छी तरह फल-फूल रही हैं। वसंत दा कहते हैं- 'बींस की फसल यदि जून में लगा दी जाए, तो इसकी पहली उपज सितंबर में मिल जाती है और यह सिलसिला मार्च तक जारी रहता है, जबकि गोभी की फसल को बार-बार लगाना पड़ता है। गाजर और याम जैसे कंद वाले फल जमीन के लिए बहुत फायदेमंद होते हैं। वे अपने आप में संपूर्ण भोजन हैं।'

वसंत दा ने कुछ पौधे चुने हैं, जो कमजोर मिट्टी में भी उग सकते हैं। सीताफल, मुनगा और चिरौंजी ऐसे ही पौधे हैं। वहां महुआ और लाल चंदन भी हैं। आदिवासी समुदाय पारंपरिक रूप से इनका इस्तेमाल औषधि के रूप में करते रहे हैं। वसंत दा कहते हैं- 'लेकिन हमें इसकी कीमत का एहसास तब हुआ, जब जापानियों ने इसे हमसे खरीदना शुरू किया।' वे कहते हैं- 'मेरे रवाला फार्म में कम से कम 200 किस्म के बीच होंगे। यहां हमारे पास करीब 50 तरह के वृक्ष तथा 100 किस्म की अन्य फसल होंगी।' केलों को गर्म हवाओं से बचाना होता है। इसलिए पश्चिम और उत्तर की ओर वृक्ष लगाए गए हैं। आम की भी अलग-अलग किस्म हैं। यहां नाना प्रकार के औषधीय पौधे, वृक्ष, खाद्यान्न, कंदमूल, लताएं आदि सभी व्यवस्थित योजना के साथ एक साथ पनप रहे हैं। चीकू और अनार के पौधे भी हैं।

वसंत दा हमें गेहूं के खेत दिखा रहे हैं। वे कहते हैं- 'एक आदर्श खेत में वृक्षों की आवश्यकता होती है। हमें यह बात किसानों को समझाने की जरूरत है। विज्ञान कहता है कि दिन में 11 बजे से 12 बजे तक किसानों को प्रकाश संश्लेषण के लिए पर्याप्त रोशनी मिलनी चाहिए। यही कारण है कि हमने पूर्व और दक्षिण दिशाओं में छोटे पौधे लगाए हैं। नीम जैसे बड़े वृक्ष हमें उत्तर और पश्चिम की ओर लगाने पड़े। हम इन बड़े वृक्षों की छाया में कंद लगा सकते हैं और अच्छा पैसा कमा सकते हैं। बड़े शहरों में वनोत्पादित खाद्य पदार्थों की काफी मांग है।'

करीब 90 मिनट पैदल चलने के बाद हमने थोड़ा विश्राम करने का फैसला किया, लेकिन वसंत दा में ऊर्जा की कोई कमी नहीं दिखती, 'आइए रात के भोजन के लिए कुछ साग निकालते हैं!' उत्सुकता संक्रामक है, लेकिन रवाला फार्म हमें बुला रहा था और हम चियु अथवा चिन्मय और उसके बड़े भाई विनय से मिलने निकल पड़ते हैं। इस दंपती से विदा लेना मुश्किल था। हम उनसे वादा करते हैं कि और अधिक प्रशिक्षण, चीजों को समझने ओर दस्तावेजीकरण के लिए हम दोबारा आएंगे।

बाबा कहते हैं- 'पैसे पर बहुत ध्यान मत दो। अपने लिखने पर ध्यान केंद्रित करो। अच्छा लिखिए, वरना आपके युवा सहकर्मी भी लिखने में पिछड़ जाएंगे।' हम इस कीमती सलाह को अपने साथ लिए आगे के सफर के लिए निकल जाते हैं।

खाला फार्म्स

जैविक खेती को अपनाने का सफर

खाला सतपुड़ा क्षेत्र में मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र की सीमा पर स्थित है। वर्धा से इसकी दूरी 140 किलोमीटर और नागपुर से 110 किलोमीटर है। 35 एकड़ के इस खेत को वसंत दा और करुणा ताई ने 40 वर्ष की कड़ी मेहनत से तैयार किया है। इसे आज तन्मय और विनय संभाल रहे हैं, यह टिकाऊ कृषि का जीवंत माडल है।

खाला सतपुड़ा क्षेत्र में मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र की सीमा पर स्थित है। वर्धा से इसकी दूरी 140 किलोमीटर और नागपुर से 110 किलोमीटर है। 35 एकड़ के इस खेत को वसंत दा और करुणा ताई ने 40 वर्ष की कड़ी मेहनत से तैयार किया है। वसंत दा माली समुदाय से आते हैं, जो पारंपरिक रूप से सब्जियां उगाता है। करुणा ताई एक बिहारी मां और गुजराती पिता रंजीत भाई देसाई की संतान हैं, जो ग्राम सेवा मंडल के मुखिया थे। वे ब्रह्मचारिणी आश्रम में पली-बढ़ी हैं।

वसंत दा और करुणा ताई की मुलाकात तरुण शांति सेना द्वारा आयोजित आवासीय शिविरों में हुई। सन 1981 में उन्होंने विवाह करने का निर्णय लिया, क्योंकि जीवन को लेकर दोनों के विचार एक जैसे थे। ताई कहती हैं- 'हम एक-दूसरे को खत लिखा करते। ये प्रेम पत्र कम और न्यूज बुलेटिन अधिक हुआ करते। हमें प्यार जताने का दूसरा कोई तरीका आता ही नहीं था। हम केवल काम के बारे में बात करते। हम ऐसे ही थे, हम आज भी अच्छे दोस्त हैं, अच्छे-बुरे वक्त में एक-दूसरे के साथ खड़े रहते हैं।'

वसंत दा कहते हैं- 'सन 1987 में हमें फुकोक्वा की वन स्ट्रा रिवॅल्युशन के बारे में जानकारी मिली। हमारे वरिष्ठ मित्रों ने जल्दी ही उसकी छायाप्रति करवाकर रीडिंग सर्किल आयोजित किए। इससे प्राकृतिक खेती को लेकर जानकारी में इजाफा हुआ। हमने 5-10 लोगों के समूह तैयार किए, जो एक आदर्श खेत तैयार करने पर काम करते, ताकि काम को आगे बढ़ाया जा सके। हमारे पास संयुक्त परिवार में 50 एकड़ जमीन थी, लेकिन वे यह जमीन देना नहीं चाहते थे। लंबे संघर्ष और कठिनाइयों के बाद आखिरकार हमें कुछ पथरीली जमीन मिली, जहां कुछ भी उगाना असंभव था। हमने इसी जमीन पर जैविक खेती की संभावनाएं सामने लाईं।'

अपने सफर के बारे में करुणा ताई कहती हैं- 'जब हम कोई नया रास्ता बनाते हैं, तो जीवन संघर्षमय हो जाता है। लोगों को हमारे विचार और खेती के हमारे तरीके अजीब लगते थे। कहा जाता कि हम पागल हैं, जो बंजर, चट्टानी जमीन पर खेती कर रहे हैं। धीरे-धीरे, प्रकृति ने हमें राह दिखाई और हम जैविक खेती की सतत प्रक्रिया स्थापित कर सके। हम अपनी जैविक उपज के लिए एक स्थायी बाजार बनाने में कामयाब रहे। वह दिन भी आया जब हमारे बेटे 10 रुपए किलो की उपज को 40 रुपए में बेच सके। मेरा मानना है कि रवाला फार्म पर जो काम हुआ है, वह केवल कृषि वैज्ञानिक ही कर सकते हैं।'

वसंत दा का नजरिया कृषि और उससे जुड़ी गतिविधियों के मौजूदा संकट के पर्यवेक्षण से उपजा है। वे कहते हैं- 'हरित क्रांति के बाद मिट्टी प्रदूषित हो गई। फसलें जहरीली हो गईं। मिट्टी की उर्वरता कम हुई है। कीट और पौधों के संक्रमण की नई किस्में आ गई

हैं। जहरीले रसायनों का भारी पैमाने पर प्रयोग किया जा रहा है। यह विचारहीन तरीके से हो रहा विनाश मनुष्य के लालच का परिणाम है और किसानों को साथ जोड़कर ही हालात सुधारे जा सकते हैं। कुछ किसान छोटे पैमाने पर प्रयोग कर रहे हैं, लेकिन यह पर्याप्त नहीं है। हमारे सामने एक बड़ी विपत्ति है...'

जैविक खेती को व्यावहारिक आर्थिक मॉडल बनाने की कोशिश

चिन्मय बहुत सहज नजर आते हैं। वे एकदम शांत होकर बातचीत करते हैं और कभी नहीं लगता कि वह बात काटने की हड़बड़ी में हैं। हम रवाला में फुटाने परिवार के मड हाउस (मिट्टी का घर) में बैठे हैं, जिसे वसंत दा और करुणा ताई ने करीब 30 वर्ष पहले बनाया था। घर के आसपास बांस, आम, संतरे, दालें और गेहूं आदि बोए गए हैं। घर के सामने के हिस्से में एक वर्कशॉप है, जहां वे अपनी जरूरत के कृषि उपकरण बनाते हैं, वहां बायोगैस संयंत्र, वर्मी कंपोस्ट पिट, गोमूत्र संग्रह पिट आदि बनाए गए हैं, ताकि कृषि कार्यों में इनका उपयोग किया जा सके। पशुओं के लिए चारा अलग से उगाया जाता है और सिंचाई व्यवस्था को भी इन तमाम वर्षों में विकसित किया गया है।

चिन्मय और उनके बड़े भाई विनय तकनीक सक्षम जैविक किसान हैं, जिन्होंने सफलतापूर्वक यह दिखाया है कि जैविक खेती कामयाब है। उन्होंने अपनी उपज के लिए एक बढ़ता हुआ बाजार भी तैयार किया है। चिन्मय कहते हैं- 'हम हमेशा यहीं रहे हैं। मैंने कक्षा 10 में स्कूल छोड़ दिया था। बाद में मैंने दो वर्ष तक पानी फाउंडेशन के साथ काम किया। इसके अलावा मैंने पूरा जीवन यहीं बिताया है। यहां रहने और खेत में काम करने का निर्णय भी मैंने सोच-समझकर लिया है। हालांकि हम यह काम अपने माता-पिता से थोड़ा अलग ढंग से कर रहे हैं, क्योंकि उनकी जैविक खेती की आर्थिकी में ज्यादा रुचि नहीं है। हमने कोविड के दौरान भी उसे सतत बनाए रखा।'

वे कहते हैं- 'आज हमें सराहना मिलती है। हमारी आम और संतरों की किस्मों को फसल तैयार होने के पहले ही ग्राहक मिल जाते हैं। हमने बिक्री के लिए मुक्त बाजार प्रणाली अपनाई है। प्रत्यक्ष बिक्री के जरिए हम विभिन्न शहरों में भी विपणन कर पा रहे हैं, लेकिन ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कीमतें थोड़ी अधिक होने के बावजूद हमारे स्थानीय ग्राहक हैं। हमारी जो उपज पहले 10 रुपए में बिकती थी, अब हमें उसके लिए 40 रुपए तक मिलते हैं, परंतु पहले ऐसा नहीं था। हमारा, हमारे परिवार

का मजाक उड़ाया जाता था, पागल कहा जाता था, क्योंकि हम कांटों भरे खेतों में बिना रसायनों के बहुत कम उपज के साथ खेती करते थे। आज जैविक खेती और जैविक उत्पाद प्रतिष्ठा का विषय बन गए हैं। बीते 30-35 वर्षों में हालात बदले हैं। लोगों ने जैविक खेती की उपयोगिता को समझा है। उसकी स्वीकार्यता बढ़ी है।'

चिन्मय बताते हैं कि कैसे कीटनाशकों के बेतहाशा इस्तेमाल ने खेतों को नष्ट किया है। 'इसका खतरा अब सामने है। खेतों में कीटनाशकों के छिड़काव के बाद लोगों के मरने की खबरें आ रही हैं। अब किसान ज्यादा असरदार कीटनाशकों का इस्तेमाल कर रहे हैं, जबकि शरीर की प्रतिरोधक क्षमता कम हो रही है। खासतौर पर यवतमाल में ऐसे मामले देखने को मिल रहे हैं। किसान, खेत मजदूर, ग्राहक सभी जानते हैं कि यह नुक्सानदेह है। इसके बावजूद इसका इस्तेमाल हो रहा है...'

'शुरू में हमने संतरे नहीं उगाए, क्योंकि वह नकदी फसल थी और इसका कारण हम एक फसली संस्कृति के शिकार हो सकते थे। उसमें पानी की खपत भी बहुत अधिक होती है। हमने विकल्प के रूप में बांस को अपनाया। यह प्रयास सफल रहा। करीब 8-10 वर्ष पहले हमने संतरे लगाए। वे अच्छी किस्म के हैं और हमारा नजरिया बदला... आज संतरों की हमारी फसल की गुणवत्ता का कोई मुकाबला नहीं है। हम तुअर दाल, हल्दी, गेहूं, चावल, सरसों, तिल, आम और बांस जैसी विशिष्ट फसलों पर भी ध्यान केंद्रित कर रहे हैं। खासतौर पर उन बांसों पर- जिनका इस्तेमाल विनिर्माण, कला एवं शिल्प, टोकरियां और सीढ़ी बनाने में किया जाता है। हमारे बांस की बिक्री में कोई बिचौलिया शामिल नहीं है।' सीधी बिक्री ने हमारे प्रतिबद्ध ग्राहक तैयार किए हैं, जिन्हें हम एक प्रभावी वितरण नेटवर्क के जरिए तथा ऑनलाइन सेवा देते हैं। सबसे बुनियादी पैकेट में 10 किलो आम और 20 किलो संतरे रहते हैं। कीमतों में भी सुधार हुआ है और वे 150 रुपए प्रतिकिलो से 180 रुपए प्रतिकिलो हो गई हैं। दोनों भाई अब एक एफपीओ स्थापित करने पर विचार कर रहे हैं, ताकि विक्रेताओं तक सीधे पहुंच सकें और ज्यादा किसानों को अपने साथ जोड़ सकें। हम प्रमाणन का सवाल उठाते हैं, जिस पर वे कहते हैं- 'वो कौन हैं हमें या हमारी उपज को प्रमाणित करने वाले? हम वर्षों से काम कर रहे हैं। हम खुद स्वयं को प्रमाणित करते हैं आप यहां आइए आपका स्वागत है, हमारे काम को समझिए और हमारी उपज का स्वाद लीजिए।'

यह आत्मविश्वास तीन दशक तक खेतों में अपने माता-पिता को कड़ी मेहनत करते देखने, शोध करने और खेती के नए तरीके तलाशने से उपजा है। वे कहते हैं- 'जब मैं युवा था, तो मेरे मन में अपने माता-पिता के काम को लेकर एक ग्रंथि थी। मैं उन्हें पूरी तरह समझता नहीं था... लेकिन बाद में कई लोग उनका काम देखने यहां आते। धीरे-धीरे मुझे समझ में आया कि मैं इस काम को आगे बढ़ाना चाहता हूं। मैंने इस दिशा में सोचना शुरू किया। आज आम की जैविक उपज के साथ मेरे मन में अभिमान का भाव भी आता है। बाजार हमें हमारे आम का कोई मुकाबला नहीं है!'

वे जिस मड हाउस में रहते हैं- उसके निर्माण की शुरूआत उनके माता-पिता ने 1999 में की थी। वे 2003 में उसमें रहने आए। रवाला अंदरूनी इलाका है, लेकिन इसके बावजूद दोनों भाइयों ने बाहरी दुनिया से संपर्क कायम रखा है, लेकिन वे बाहरी दुनिया के बहुत ज्यादा प्रभाव में नहीं हैं। चिन्मय कहते हैं- 'हम यूट्यूब पर बहुत वीडियो देखते हैं। वहां भटकना आसान है। हम ऐसा इसलिए कर रहे हैं, क्योंकि यही करना सही है। यह हमारा सोचना है, यह मेरे पिता का विचार है, लेकिन दूसरों का क्या? क्या वे भी रुचि रखते हैं?'

'जैविक खेती का बुनियादी सिद्धांत यह है कि यदि आप पैसे का निवेश करेंगे और केवल पैसे के लिए इसे अपनाएंगे, तो यह कारगर नहीं होगी। खेती अंशकालिक काम नहीं हो सकता, उस पर दूर से नजर नहीं रखी जा सकती। इसे लगकर अंजाम देना होता है! यदि आपके पास छोटा-सा खेत है, तो भी आपको वहां रोजाना जाना होगा, उसका ध्यान रखना होगा... यूरोपीय देश अपनी उपज का निर्यात करते समय कड़े मानकों का पालन करते हैं। जैविक खेती के लिए सिर्फ पैसे के निवेश से बात नहीं बनती। हमें इसे इस प्रकार तैयार करना होता है कि जहां हर कोई काम करना चाहे। बुनियादी विचार पैसे कमाना और उपज को बेहतर दर पर बेचना नहीं है। यदि आप

जैविक खेती करना चाहते हैं, तो आपको प्रकृति के समक्ष झुकना सीखना होगा। हमें अपना झूठा अभिमान त्यागना होगा और ऐसा व्यवहार करना बंद करना होगा मानो हम ही ईश्वर हों। यहां बिक्री का उद्देश्य अधिकतम नहीं बल्कि, उत्कृष्टतम होना चाहिए।'

परंतु व्यक्तिगत स्तर पर होने वाला यह काम समाज पर किस तरह परिलक्षित होता है? यह पूरी तरह व्यक्तिगत कार्य है या कोई संपर्क भी है? चिन्मय कहते हैं- 'लोग, खासकर युवा किसान हमारे पास सीखने आते हैं, हम उन्हें छोटे-छोटे काम सौंपते हैं। कुछ लोग कुंए खोदना चाहते हैं, बांस के शौचालय बनाना चाहते हैं, जबकि अन्य घरेलू खेती, ड्रिप सिंचाई, फसल भंडारण तथा अन्य काम करना चाहते हैं। कई बार हम उन्हें स्वास्थ्य और वित्तीय माममलों में मशविरा देते हैं और आपात परिस्थितियों में मदद करते हैं। एक छोटे किसान को शुरूआत में जैविक खेती में ढाई से तीन लाख रुपए का निवेश करना होता है। बुनियादी जरूरत है बाड़, कुंआ, भंडारण सुविधा, बीज तथा गर्मियों में फसल का ध्यान रखना। लंबे समय तक सिंचाई की जरूरत होती है। एक किसान को दिन में 10 घंटे तक खेत को पानी देना पड़ सकता है। बिजली गुल होने से यह काम मुश्किल होता है। सौर ऊर्जा में निवेश करना अच्छा है, लेकिन बादलों वाले मौसम में यह ठीक से काम नहीं करता। ज्यादा लोगों के पास इतने संसाधन नहीं होते कि वे इसमें निवेश कर सकें। हम अपनी तरह से मदद करने की कोशिश करते हैं...'

हम रवाला फार्म के कुछ हिस्सों में खासकर बांस के जंगल, आम, संतरे और गेहूं के खेतों में घूमते हैं। यह ऐसा पर्यावास है, जहां सब एक-दूसरे पर निर्भर हैं। फुटाने परिवार की सबसे छोटी सदस्य विनय की बेटी पनति कहती है- 'काका को आराम नहीं है। वे सुबह उठकर चिड़ियों को भगाने चले जाते हैं।'

जब हम घर वापस लौट रहे थे, तो हम इस बारे में चर्चा कर रहे थे कि लोग अपने जीवन में किस तरह के निर्णय लेते हैं। जैसा कि ताई ने कहा- 'आपको निर्णय लेने का अधिकार है, लेकिन वास्तविक परीक्षा है अपने चयन के साथ खड़े रहना और कठिन परिस्थितियों से निपटना, न कि अपनी प्रतिबद्धता त्याग देना। यदि आपके काम ने लोगों और समुदायों को प्रभावित किया है और जीवन जीने का एक अलग तरीका दिखाया है, तो आप कहीं न कहीं सही मार्ग पर हैं। चलते रहिए...

होम आम्ही शेतकारी फाउंडेशन

तकनीक से मुनाफे की मिठास

महाराष्ट्र के सांगली में 'होम आम्ही शेतकारी फाउंडेशन' ने आधुनिक संचार तकनीक और पारंपरिक खेती के संयोजन से हजारो-हजार गन्ना किसानों के उत्पादन में असाधारण वृद्धि को मूर्त रूप दिया है। इससे न केवल किसानों का मुनाफा बढ़ा है, बल्कि मिट्टी को भी राहत मिली है और उसकी उर्वरा शक्ति संचित हुई है। यह नवाचार भारतीय कृषि में एक नया अध्याय जोड़ सकता है।
अपनी परिकल्पना को मूर्त रूप देती इस कहानी से समझ में आता है कि व्यावसायिकता में भी नैतिकता के मूल्य समाहित किए जा सकते हैं।

भारत दुनिया का सबसे बड़ा चीनी उत्पादक और उपभोक्ता देश है। गन्ना देश में 5 करोड़ किसान परिवारों और मजदूरों की आजीविका का जरिया भी है। इतना ही नहीं, देश के कुल कृषि उत्पादन में 10 फीसदी का योगदान अकेले गन्ना करता है। करोड़ों परिवारों की जिंदगी में मिठास घोलने वाले गन्ने को निश्चित आमदनी वाली फसल माना जाता है। सरकारी रिपोर्ट बताती है कि गेहूं और कपास की अपेक्षा गन्ना में 200-250 फीसदी नेट रिटर्न (शुद्ध लाभ) मिलता है। हालांकि, जलवायु परिवर्तन और खेती की बढ़ती लागत से इसके किसानों की मुश्किलें बढ़ी हैं।

उत्तरप्रदेश के बाद महाराष्ट्र देश में दूसरा सबसे बड़ा चीनी उत्पादक राज्य है। यहां के कई जिले, जो सिर्फ गन्ना उत्पादन के लिए जाने जाते हैं, उनमें सांगली भी शामिल है। कृष्णा और वारणा नदी की घाटी में बसे सांगली की काली मिट्टी, मौसम अनुकूल होने पर किसानों के लिए सोना उगलती है। मगर, सन 2023 में यहां के किसान यहां औसत से कम बारिश होने की वजह से परेशान हैं। इसके चलते महाराष्ट्र सरकार ने अक्टूबर में राज्य की 40 तहसीलों को सूखाग्रस्त घोषित किया, जिसमें वाल्वा तालुका भी शामिल है। इसी तालुका में डॉ. अंकुश चोरमुले का गांव आष्टा भी आता है। वह खुद प्रगतिशील गन्ना किसान और विशेषज्ञ हैं तथा अपने गैर-सरकारी संगठन 'होय आम्ही शेतकरी फाउंडेशन' के जरिए दूसरे किसानों को गन्ने की उन्नत खेती के लिए प्रशिक्षित करते हैं।

अंकुश कहते हैं- 'पिछले कुछ वर्षों से जलवायु परिवर्तन के चलते खेती में बहुत सारे बदलाव आ रहे हैं। कभी इतनी बारिश हो जाती है कि फसल डूब जाती है, तो कभी बारिश ही नहीं होती, जैसे- इसी साल महाराष्ट्र के कई जिलों में बारिश न होने से सूखा पड़ गया है। इसे देखते हुए हम लोग किसानों में ये जागरूकता ला रहे हैं कि कम पानी में खेती की जाए।' वे आगे कहते हैं- 'पूरे भारत में करीब 5 करोड़ किसान परिवार गन्ने की खेती से जुड़े हैं। लाखों मजदूरों की आजीविका गन्ने पर निर्भर है। इसलिए हम कुछ किसान साथियों ने अपनी पढ़ाई और अनुभव को गन्ने के विकास के लिए कार्य करना शुरू किया।'

कीट विज्ञान (Entomology) में पीएचडी करने वाले अंकुश चोरमुले का घर गन्ने के खेतों के बीच बना है। वहीं पर वे किसानों को ट्रेनिंग देते हैं। अपने खेत के बीच बने कुएं को दिखाते हुए चोरमुले कहते हैं, 'देखिए हमारे यहां इतनी कम बारिश हुई है कि सूखा पड़ गया है और ये कुआं अभी से सूखने लगा है। ज्यादातर किसानों के पास फरवरी मार्च तक का पानी है, तो आगे कैसे होगा? गन्ना फसल 18 महीने की है।'

वे आगे कहते हैं- 'पानी का संकट तो हैं, लेकिन अधिकांश लोगों को लगता है गन्ना ज्यादा पानी वाली फसल है। यूपी, पंजाब, हरियाणा समेत कई राज्यों में किसान खुले में सिंचाई करते हैं, लेकिन हम अपने किसानों को बताते हैं, कैसे कम पानी में फसल उगाई जाए। इसके लिए हमने अपने कई डेमो प्लॉट भी तैयार किए हैं। यहां हम किसानों को दिखाते और बताते हैं कि कैसे बैक्टीरिया (सूक्ष्म जीव) का उपयोग किया जाए। क्यों बूंद-बूंद सिंचाई विधि (ड्रिप इरिगेशन या फव्वारा विधि) अपनाई जाए। गौरतलब है कि पानी की जरूरत पौधों की जड़ को होती है, पूरी फसल या मिट्टी को नहीं। हमारी ट्रेनिंग में किसान यही सब देखते हैं, तो उसे अपनाते हैं। इससे भूमिगत जल तो बचेगा ही, पानी और खाद के संतुलित प्रयोग से पैदावार भी ज्यादा होगी।'

'होय आम्ही शेतकरी फाउंडेशन'

'होय आम्ही शेतकरी... गर्व से बोला जाने वाला एक मराठी वाक्य है कि 'मैं भी किसान हूं।' यह हर किसान को बोलना चाहिए। होय आम्ही शेतकरी फाउंडेशन से देश के 20 लाख गन्ना किसान जुड़े हैं। पहले हम सिर्फ सोशल मीडिया के जरिए वीडियो बनाकर किसानों को भेजते थे, बाद में खेत पर ट्रेनिंग भी शुरू की। हमारे वीडियो देखकर हजारों किसानों की खेती बिल्कुल बदल गई है।' आमोल पाटिल, निदेशक, होय आम्ही शेतकरी फाउंडेशन कहते हैं।

आमोल के मुताबिक, होय आम्ही शेतकरी एक गैर-सरकारी संगठन, एनजीओ बनेगा इस बारे में कुछ सोचा नहीं गया था। इसकी शुरूआत साल 2013 में एक वॉट्सएप ग्रुप के तौर पर हुई थी। फिर फेसबुक और दूसरे सोशल मीडिया पर काम शुरू किया गया और साल 2019 में भारत सरकार के सेक्शन-8 कंपनी के तहत फाउंडेशन को एनजीओ में दर्ज कराया गया। किसानों को ट्रेनिंग की जरूरत के बारे में पूछने पर आमोल कहते हैं- 'हमारे क्षेत्र में सबसे ज्यादा गन्ने की खेती होती है। पश्चिमी महाराष्ट्र के 5 में से 2 जिले सांगली और सोलापुर को शुगरकेन बॉउल (गन्ने का कटोरा) कहा जाता है। यहां गन्ने में रिकवरी सबसे ज्यादा होती है। देश के ज्यादातर हिस्सों में गन्ने का औसत उत्पादन 35 टन (350 क्विंटल) प्रति एकड़ है, जबकि हमारे यहां किसान 100 टन के ऊपर भी गन्ना पैदा करते हैं। ऐसा क्यों होता है, कैसे करते हैं, इसका अभ्यास करने की जरूरत है। हमारे यहां गन्ना ज्यादा पैदा होता है, क्योंकि हमारी खेती की तकनीक बेहतर है।'

गन्ने पर ही फोकस क्यों? इस सवाल के जवाब में आमोल कहते हैं- 'हम लोग कई फसलों में काम करते हैं, लेकिन गन्ने पर ज्यादा जोर देते हैं, क्योंकि गन्ना एक ऐसी फसल है, जो आपको शर्तिया धन दे सकती है। अगर आप इसमें सही तरीके से काम करेंगे, तो अच्छा पैसा मिलेगा। इसे हमारे इलाके के किसानों ने साबित किया है।'

आमोल राजन पाटिल के मुताबिक वे किसानों को बताते हैं कि खेत कैसे तैयार किया जाए। बीज कौनसा होना चाहिए। कीट और रोग का प्रबंधन कैसे हो। पानी का नियोजन कैसा हो।

'गन्ने की खेती पर हम हम लोगों ने छोटे-छोटे वीडियो बनाने शुरू किए, तो किसानों को फायदा होने लगा। धीरे-धीरे महाराष्ट्र, कर्नाटक, यूपी, मध्यप्रदेश और दूसरे राज्यों के किसान हमसे जुड़ने लगे। हमनें उनकी समस्याओं का समाधान बताना शुरू किया। हम लोग हर महीने छोटी-छोटी ट्रेनिंग रखते हैं, जिसमें किसानों को खेत में ले जाकर वैज्ञानिक तरीके से बताते हैं कि ऐसी विधि ही क्यों अपनानी चाहिए। हम लोग साल में 2 बड़े ट्रेनिंग प्रोग्राम करते हैं, उसमें करीब 1,000 किसान शामिल होते हैं। उन्हें भी खेत पर सब कुछ करके दिखाते हैं, उसके बाद उनका आत्मविश्वास बढ़ जाता है कि मैं भी ऐसे खेती करके अच्छा उत्पादन ले सकता हूं।'

पाटिल के मुताबिक, महाराष्ट्र और यूपी की जलवायु और खेती के तरीके में अंतर के बावजूद हमने देखा कि जिन किसानों ने उनके बताए तरीके से खेती की, उनका उत्पादन 350 क्विंटल से बढ़कर 500 क्विंटल तक पहुंच गया है।

वैज्ञानिक सोच और तकनीकी का साथ

डॉ. चोरमुले कहते हैं- 'बहुत सारे लोगों को लगता है गन्ना बहुत पानी वाली फसल है। यूपी के किसानों को लगता है कि उनके यहां पानी ज्यादा है, तो वे ड्रिप भी इस्तेमाल नहीं करते, जबकि हम तो चुनौती देते हैं कि जितने कम पानी में अनार और अंगूर हो सकता है उतने में गन्ना भी हो सकता है। ड्रिप और स्प्रिंकलर पर सरकार 80 फीसदी सब्सिडी दे रही है। किसानों को उसका फायदा उठाना चाहिए।'

अंकुश चोरमुले के मुताबिक, वे सिर्फ कहते ही नहीं हैं, किसानों को करके भी दिखाते हैं और इसके लिए तकनीक का साथ लेते हैं। 'ये जो पीछे आप गन्ना देख रहे हैं, इसकी मिट्टी में हमने सेंसर लगाए हैं। उसका डाटा मोबाइल में रिकॉर्ड करते हैं। नमी कितनी है? कम या ज्यादा सिंचाई की जरूरत है यह देखते हैं। हमारे खेतों में 8 इंच से लेकर 12 इंच तक गहराई वाले तीन तरह के सेंसर लगे हैं, हालांकि, इसकी कीमत 25 हजार रुपए है, लेकिन अब 1,000 रुपए वाले सेंसर भी आ रहे हैं किसान उन्हें आसानी से खेत में लगा सकते हैं। बहुत सारे किसानों ने लगाए भी हैं। अभी उनकी संख्या कम है, लेकिन जिन्हें भी समझ आ रहा है वे तुरंत लगवाते हैं।'

आर्थिक पक्ष

अंकुश के मुताबिक, जिन लोगों ने हमारी कृषि विधियों का उपयोग किया, उससे उनकी गन्ने की फसल की लागत कम हुई और उत्पादन बढ़ा है। 'हमारे इलाके में एक एकड़ में किसान एक लाख रुपए खर्च करता था। हमने जो तकनीक बनाई, उससे वही कार्य 75 हजार रू. में हो जाता है और उपज 1000 क्विंटल तक मिल जाती है। अगर आर्थिक पक्ष की बात करें, तो हमने 25 हजार रुपए लागत में बचाए और औसतन 20 क्विंटल की उपज बढ़ी, तो उन्हें 60,000 रुपए (महाराष्ट्र में गन्ने का औसत भाव 300 रुपए क्विंटल) अतिरिक्त मिले।

विगत 7-8 साल में हमने गन्ने की खेती में बहुत बदलाव किया है। पिछले साल हमसे जुड़े 3,000 किसानों ने पहले से ज्यादा का उत्पादन लिया था और अधिकतम उपज एक किसान के यहां 1,400 क्विंटल प्रति एकड़ की थी। हमारा असर महाराष्ट्र और कर्नाटक में ज्यादा है।' पूछने पर कि लागत कम करने और उत्पादन बढ़ाने की विधि में खास क्या है? चोरमुले के मुताबिक, इसमें कोई राज नहीं है। हमारी मिट्टी की उर्वरता खत्म हो रही है। खेतों में ऑर्गेनिक कार्बन (जीवाश्म) कम हो रहा है। लगातार रासायनिक उर्वरकों के अंधाधुंध प्रयोग और ट्रैक्टर की जुताई, अनियंत्रित सिंचाई से मिट्टी का निचला हिस्सा बहुत कठोर हो गया है। अगर मिट्टी में जीवाश्म बढ़ेगा, तो खेती की लागत अपने आप कम हो जाएगी। इसलिए हम किसानों को बताते हैं कि मिट्टी के भौतिक और रासायनिक गुणों को बेहतर करने के लिए क्या करना चाहिए। फसल चक्र, हरी खाद, सूक्ष्म सिंचाई, फसल अवशेष का प्रबंधन, बैक्टीरिया की संख्या आदि इस पर असर डालते हैं।'

फाउंडेशन का संचालन

अंकुश और आमोल के मुताबिक, शुरूआत में वे लोग अपनी जेब से पैसे खर्च कर रहे थे, बाद में कुछ पैसे सोशल मीडिया के माध्यम से मिलने शुरू हुआ, लेकिन वे नाकाफी थे, किसानों की संख्या बढ़ रही और लोगों की अपेक्षाएं भी इसलिए फाउंडेशन बना और उसके चलाए रखने के लिए गन्ना मास्टर नाम से एक लाभकारी कंपनी भी बनाई। अंकुश कहते हैं- 'हमने फाउंडेशन के जरिए बहुत सारे किसानों को उद्यमिता सिखाई और खुद भी इस तरफ आगे बढ़े। हमने स्टार्टअप के तहत गन्ना मास्टर कंपनी बनाई, यह कमर्शियल फर्म है। एनजीओ के काम में पैसा लगता है, तो कहीं से फंडिंग चाहिए। फंडिंग नहीं आएगी, तो जेब से लगाना पड़ेगा। इसलिए हम गन्ना मास्टर के कंपनी दायित्व के तहत ट्रेनिंग और किसानों के भ्रमण का आयोजन करते हैं।'

किसानों को दिखी रोशनी

सांगली के ही कस्बे डिग्रज गांव के युवा किसान श्रेयस साई मोते (22 वर्ष) के पास 2 एकड़ जमीन है, जिसमें वे गन्ने की खेती करते हैं। उनकी फसल की पत्तियों पर भूरे रंग के दाग नजर आ रहे थे, जिस दौरान मैं अंकुश का इंटरव्यू ले रही थी, वे उन्हें अपनी फसल की पत्तियां दिखाने आए थे। अंकुश ने ब्राउन स्पॉट को खत्म करने के लिए उन्हें फफूंदनाशक एम-45 के छिड़काव की सलाह दी। कई दूसरे किसान भी उस दिन अपनी फसल के बारे में जानकारी लेने आए थे। श्रेयस कहते हैं, 'होय आम्ही शेतकरी फाउंडेशन से जुड़ने से उत्पादन बढ़ा है। पहले हम मुश्किल से 50 टन प्रति एकड़ का उत्पादन ले पाते थे, अब 80 टन ले रहे हैं। रोज-रोज के वीडियो देखकर हमारी खेती सुधरी है। हमने अपने खेत में सेंसर लगाया है, जो बताता है सिंचाई कब करनी और कितना पानी चाहिए।'

वे मुस्कराते हुए कहते हैं- 'अब तो मैं खुद इतना सीख गया हूं कि आसपास के कई किसान हम से सलाह लेने आते हैं।'

NAAM
FOUNDATION
शाळगांव
ता.कडेगांव
जि.सांगली
ओढा स्वच्छता व खोलीकरण

नाम फाउंडेशन

सूखे इलाके में पानी

सोलापुर जिले में एक नाला/पानी के स्त्रोत को जिस तरह समुदाय ने अपने पुरुषार्थ से पुनराविष्कारित किया वह वास्तव में अनुकरणीय है। 37 किलोमीटर की लंबाई वाला नाला (जो कि गाद और कचड़े से भर चुका था), को पुन: प्रवाहमय बनाना किसी चमत्कार से कम नहीं है। ग्रामीणों का अपने परिवेश और व्यवसाय से लगाव कैसे सौंदर्य के साथ परिस्थितियों को अनुकूल बना देता है, यह कहानी इसी का जीवंत प्रमाण है।

महाराष्ट्र में किसानों की आत्महत्या की प्रमुख वजह है वर्षा आधारित खेती, भीषण जलसंकट एवं उससे फसल को पहुंचने वाला नुक्सान तथा कर्ज का जाल। कृषि में भारी अनिश्चितता और इससे जुड़े बोझ की एक वजह यह भी है कि किसान के पास आय का कोई अन्य वैकल्पिक स्रोत नहीं होता। इससे वे उम्मीद गंवा बैठते हैं, परंतु इसकी केंद्रीय वजह रही है खराब जल-प्रबंधन, प्राकृतिक जलाशयों और छोटी नदियों की अनदेखी, प्राकृतिक जलभराव वाली जगहों पर अतिक्रमण, जलधाराओं को नया जीवन प्रदान करने में लापरवाही और उचित फसल का चयन न

करना। सोलापुर जिला राज्य के दक्षिणपूर्व में स्थित है। यहां वर्ष में औसतन 488 मिलीमीटर वर्षा होती है और सूखे की संभावना वाला सबसे लंबा इलाका, जो दुर्लभ एग्रो क्लाइमेटिक जोन (ऐसा भूभाग, जो एक खास तरह की फसलों के लिए उपयुक्त होता है) कहलाता है, वह यहीं है।

एक ओर सोलापुर जिला सूखे से प्रभावित और कम वर्षा वाला इलाका है, वहीं विडंबना यह है कि इस इलाके में गन्ने की खेती अधिक होती है। कृष्णा नदी पर बने उजानी बांध से पानी की आपूर्ति होने से गन्ने की खेती पर जोर दिया जाने लगा। जिले के करीब 17 फीसदी सिंचित क्षेत्र में गन्ने की खेती होती है और पानी का जमकर दुरुपयोग होता है। इससे क्षेत्र में पानी और मिट्टी का संतुलन नष्ट हो गया है और भूजल पर भी बुरा असर पड़ा है। अनियमित वर्षा और जल-प्रबंधन की अनदेखी ने एक दुष्चक्र रच दिया है, जहां वर्षा के बाद बहने वाले पानी का समुचित प्रबंधन नहीं हो पा रहा था और इसके परिणामस्वरूप जलाशयों की क्षमता का इस्तेमाल न होने के कारण भूजल रिचार्ज नहीं हो पाता था। इस जलसंकट का सीधा असर यह हुआ कि कृषि से होने वाली आय अनिश्चित हो गई तथा निजी कुंओं व बोरवेल के साथ ही पुरानी सामुदायिक जल संरचनाओं के संरक्षण और मरम्मत तथा जलधाराओं को नए सिरे से साफ करने की मांग बढ़ने लगी। इस दौरान पीने के पानी की तात्कालिक जरूरतों को पूरा करने के लिए वाटर टैंकरों से आपूर्ति होने लगी। इन उपायों को सरकारी योजनाओं का भी समर्थन मिला। ये सभी अल्पकालिक उपाय थे, जबकि जरूरत यह थी कि इस क्षेत्र में प्राकृतिक जलधाराओं के कैचमेंट क्षेत्र (वह इलाका जहां से पानी इन जलधाराओं में मिलता है) को साफ-सुथरा करने पर ध्यान दिया जाए और सहज बुद्धि का इस्तेमाल करते हुए अधिक प्राकृतिक तरीकों से प्रबंधन किया जाए। सरकारी योजनाओं में जलापूर्ति, पाइप और बोरवेल की मरम्मत, नदी के करीबी इलाकों में कुंए खोदने, कुंओं को साफ और गहरा करने और टैंकर से आपूर्ति करने पर ध्यान दिया गया, लेकिन यह प्रयास हमेशा अपर्याप्त साबित हुए।

सोलापुर जिले के दक्षिण में 117 गांवों वाले माधा तालुका में कृष्णा नदी की सहायक नदी इंद्रयानी पर 110 टीएमसी क्षमता वाला उजानी बांध स्थित है। यह बांध पुणे, सोलापुर और अहमदनगर जिलों को पानी की आपूर्ति भी करता है, लेकिन जब तक पानी को पंप की मदद से ऊपर उठाने की व्यवस्था नहीं की जाती और सभी खेतों

और घरों तक इसे नहीं पहुंचाया जाता, तब तक हर गांव इससे लाभान्वित नहीं हो पाएगा। विदर्भ और औरंगाबाद क्षेत्रों में किसानों की आत्महत्या की खबरें सामने आने के बाद किसानों की समस्याओं पर लोगों का ध्यान गया। हालांकि किसी को भी इन समस्याओं का वास्तविक हल पता नहीं था, लेकिन समाज में बदलाव लाने वालों ने तात्कालिक हस्तक्षेप और दीर्घकालिक स्थायी हल के लिए कदम उठाने शुरू किए।

नाम फाउंडेशन स्थानीय स्तर पर सहयोग के साथ काम कर रहे समुदाय आधारित संगठनों की सहायता कर रहा है। सोलापुर जिले के माधा तालुका में विशिष्ट संदर्भों के साथ उक्त हस्तक्षेपों का पर्यवेक्षण किया गया। इस दौरान 12 गांवों और दो नगर पंचायतों वाले माधा में किए गए हस्तक्षेप का विशिष्ट पहलू था सक्रिय भागीदारी और स्वैच्छिक रूप से अपनी जमीन देकर जल केंद्रित कामों का किया जाना,सामने आया। इसके बाद संघ, बाजार लिंकेज आदि जरिए से खेती से जुड़ी समूची शृंखला को बदला गया, जिससे कृषि से होने वाली आय में सुधार देखने को मिला।

माधा तालुका के गांवों का एक हिस्सा पूरी तरह सूख गया था, क्योंकि पानी की भारी कमी थी। गांव वालों ने बताया कि भूजल प्राप्त करने के लिए 500 से 600 फीट गहरा बोरवेल खोदना पड़ता है और यहां औसत बारिश कभी 519 मिलीमीटर का स्तर पार नहीं करती। वे इस बात से भी अनभिज्ञ थे कि 37 किलोमीटर लंबी एक जलधारा (बेंदवाड़ा नाला), जो 12 गांवों और दो नगर पंचायतों को छूकर या उन्हें पार करके गुजरती है, उसमें यह क्षमता है कि किसानों और गांव वालों की तकदीर बदल दे। इसमें इतनी अधिक गाद भरी थी और इस कदर कचरा फेंका जा चुका था कि यह कल्पना करना भी मुश्किल था कि यहां कभी नाला रहा होगा, लेकिन यहां के लैंड रिकॉर्ड से यकीनन मदद मिली। यहां फसलों का मौसम सूखा रहता है और अक्सर मुश्किलों का सामना करना पड़ता हैं, क्योंकि क्षेत्र में हर तीसरे वर्ष सूखा पड़ जाता है। ऐसे में किसान आजीविका के वैकल्पिक स्रोत तलाश रहे थे।

चूंकि यहां की 70 फीसदी से अधिक आबादी खेती पर निर्भर है, ऐसे में यदि खुशकिस्मती से पर्याप्त बारिश हो जाती, तो एक सीजन में एक फसल मिल जाती है, परंतु यह आजीविका के लिए पर्याप्त नहीं था, क्योंकि अनिश्चितता बनी रहती थी, कीमत कम मिलती और फसलों के खराब होने का भय बना रहता। स्थानीय कुर्दू गांव में 517 परिवारों के 9,000 लोग रहते हैं। गांव की मिट्टी उपजाऊ है, लेकिन यहां आजीविका का मुख्य स्रोत डेरी ही है। गांव में दूध संग्रह करने के 20 केंद्र हैं, जहां हर रोज गांव वाले 25,000 लीटर दूध का योगदान देते हैं, परंतु खाद और चारे के लगातार महंगा होने से उनकी मुश्किलें बढ़ रही हैं। ऐसे में पानी की सतत उपलब्धता को एक दीर्घकालिक हल के रूप में देखा जा रहा है, जिसका असर अगले एक दशक में पूरी तरह साफ नजर आने लगेगा।

स्थानीय किसान महेश आनंद कहते हैं कि यहां हर तीसरे वर्ष सूखा पड़ जाता है और इसलिए खेती पर पूरी निर्भरता कभी उनके लिए स्थायी आजीविका रही ही नहीं। चूंकि स्थानीय आबादी मोटे तौर पर पशुपालन पर निर्भर है, इसलिए इस क्षेत्र के गांवों में हर परिवार पर्याप्त पशु पालता है और दूध संग्रहण केंद्र उन्हें तमाम विपरीत हालात में भी फलने-फूलने में मदद करते हैं। इस क्षेत्र की प्रमुख फसलों में ज्वार, गेहूं, मक्का, तुअर और प्याज शामिल हैं। इस क्षेत्र में पालतू पशुओं की आबादी करीब 25,000 है, जिसमें जर्सी और होलस्टीन गायें और भैंसें शामिल हैं। हर परिवार के पास औसतन 15 पालतू पशु हैं और पशुधन सही मायनों में यहां ग्रामीणों की असली संपत्ति हैं। स्थानीय किसान भारत बोआ जगतापी के पास एक गौशाला है, जहां 30 गायें हैं और उनके यहां करीब 800 से 1000 लीटर दूध का रोजाना उत्पादन होता है। एक गाय रोज औसतन 25 लीटर दूध देती है। गाय का गोबर भी बाजार में बिक जाता है। गांव वाले गाय के गोबर को खाद के रूप में भी इस्तेमाल करते हैं और रासायनिक उर्वरकों पर उनकी निर्भरता कम है। पुराने किसान भानुदास डोंगरे भी अन्य किसानों की तरह ही 7-8 एकड़ रकबे में कठिनाईपूर्वक खेती करते हैं और उन्हें आशा है कि पानी की उपलब्धता होने से आने वाली पीढ़ी का भविष्य बेहतर होगा।

गांव वालों ने बताया कि खेती से नियमित आय न होने के कारण उन्हें शहरों में काम की तलाश में जाना पड़ता था। सन 1985 तक ऐसा ही चला और सन 1990 के दशक में सूखा पड़ने के बावजूद हालात कुछ बेहतर हुए, क्योंकि दूध के उत्पादन में सुधार होने लगा था। इससे लोगों का काम की तलाश में बाहर जाना रुका। हालांकि कुंए सूख चुके थे और पीने का पानी बहुत मुश्किल से मिल पाता था। खेत सूखे रहते थे, लेकिन गन्ने की खेती कभी नहीं रुकती थी, क्योंकि उद्योग जगत केवल गन्ने की फसल ही खरीदने को तैयार होता था। अगर फसल अच्छी नहीं होती या नुक्सान हो जाता, तो फसल को पशुओं के चारे के रूप में इस्तेमाल कर लिया जाता। किसान समुदाय की इकलौती इच्छा यही थी कि खेती के लिए पर्याप्त पानी हो, क्योंकि यह सभी की आजीविका के लिए अनिवार्य था। वहां की जमीन पर्याप्त उपजाऊ थी, लेकिन पर्याप्त बारिश होने पर भी वहां एक सीजन में एक फसल से अधिक नहीं हो पाती थी।

संघ का निर्माण और कृषि का उद्यमीकरण

निरंतर मुश्किल हालात से जूझ रहे इस क्षेत्र का कठिन सफर उस समय बदला, जब किसानों ने एक साथ मिलकर यह इच्छाशक्ति दिखाई कि गाद से भरे और परित्यक्त बांदवाड़ा नाले (Bandvada nala) की साफ-सफाई की जाए और उसे नया जीवन दिया जाए। यही उनकी इकलौती उम्मीद थी। उनमें से किसी ने कभी खेती से दूरी बनाने के बारे में सोचा तक नहीं था। गांव की अर्थव्यवस्था में अन्य जो भी विकल्प मौजूद थे वे भी प्रचलित थे, लेकिन किसान बार-बार खेती का रुख करते, क्योंकि उन्हें इसमें संतुष्टि मिलती थी। ग्राम पंचायत के बांध को नए सिरे से तैयार करने के प्रस्ताव के बारे में युवा राजनेता धनराज से चर्चा की गई। उन्होंने इस मसले को माधा वेलफेयर फाउंडेशन के जरिये उठाया और नाम फाउंडेशन तक पहुंचे, ताकि महाराष्ट्र के इस संकटग्रस्त इलाके में तथा उससे परे भी किसानों की समस्याओं को हल करने की दिशा में काम किया जा सके। एक बार जब समुदाय ने बांदवाड़ा नाले (Bandvada nala) की सफाई, उसके गहरीकरण और उस पर चेक डैम बनाने का निर्णय कर लिया, तो सरकारी डीएसआर रिपोर्ट के अनुमान के आधार पर आकलन किया गया कि नाले के पुनरुद्धार में करीब 9.4 करोड़ रुपए की राशि खर्च होगी। हालांकि अतिक्रमण और दो-तीन लाख रुपए मूल्य की जमीन का इस जल संरचना के कैचमेंट एरिया में होना बाधा साबित हो सकता था। बिना हर्जाना दिए कई एकड़ जमीन हासिल करना मुश्किल हो सकता था। चूंकि यह सामुदायिक काम था, इसलिए आशा थी कि काम की लागत को आपस में साझा कर लिया जाएगा। यहां सामुदायिक संगठनों ने हस्तक्षेप किया और गांव वाले समुदाय के व्यापक लाभ तथा पानी की उपलब्धता के लिए अपनी जमीन देने में नहीं हिचकिचाए। सभी समझ रहे थे कि पानी की उपलब्धता सबके लिए उपलब्धि होगी और खेती से जुड़ी तमाम चिंताओं को भी हल करेगी। समुदाय की शक्ति और अपनी क्षमताओं की मदद से योगदान करने की उनकी इच्छाशक्ति की बदौलत गाद की सफाई और निर्माण की लागत काफी कम करने में मदद मिली। यह पूरा काम केवल 12 लाख रुपए में हो गया। किसानों ने डीजल की कीमत चुका और जल संरचना के निर्माण और उसका आकार बढ़ाने के लिए अपनी जमीन लिए जाने को भी उन्होंने मुद्दा नहीं बनाया। एक महिला किसान कहती है कि उसने अपनी चार एकड़ जमीन दी, जबकि वहां एक एकड़ जमीन की कीमत 10 लाख रुपए है।

सामुदायिक भागीदारी की मदद से दो वर्ष में निर्माण कार्य पूरा हो गया। इसके पूरा होने के बाद सन 2020 में अच्छी बारिश हुई और यह लबालब भर गया। इस तरह लोगों का उम्रभर का एक ख्वाब पूरा हुआ, परंतु 2021 में आई बाढ़ ने निर्माण को क्षति पहुंचाई और गांव उस पानी से वंचित रह गया, जो एक साल पहले भंडारित किया गया था। हालांकि भूजल बहुत अच्छी तरह रिचार्ज हो गया लेकिन गर्मियों में फिर भी मुश्किल होती। गांव की महिलाओं ने इस जल परियोजना को लेकर गहरी प्रतिबद्धता दिखाई, क्योंकि पानी लाने और उसे भंडारित करने का दायित्व उनके ही कंधों पर था। बातचीत के दौरान गांव वाले बताते हैं कि चूंकि बाढ़ का पानी गांव की ओर नहीं मोड़ा जा सकता और उसे पंप आदि के जरिये भी गांव तक नहीं पहुंचाया जा सकता, इसलिए न केवल पूरा क्षेत्र पानी में डूब गया, बल्कि गांव को वह पानी भी नहीं मिल सका, जो उसे मिलना चाहिए था। स्वप्निल जैसे युवा और प्रगतिशील किसानों ने जलस्तर में बदलाव

को लेकर उम्मीद जताई और अनार तथा अंगूर की खेती शुरू की, ताकि बाजार की मांग पूरी की जा सके तथा उपज की अच्छी कीमत हासिल की जा सके। जब दो वर्षों के निरंतर प्रयासों के बाद उन्हें लाभ हुआ। उनकी आय 6-7 गुना बढ़ गई, जो बहुत बड़ी उपलब्धि है। संगठन की विश्वसनीयता पर यकीन और हिंदी तथा मराठी फिल्मों के सितारा हैसियत वाले चर्चित अभिनेता नाना पाटेकर की मौजूदगी ने गांव वालों को इससे जुड़ने के लिए प्रेरित किया और उन्होंने योजना बनाकर यह निर्णय लिया कि वे न केवल अपनी तकदीर खुद लिखेंगे बल्कि अपनी सामूहिक बुद्धिमत्ता के साथ उस पर पूरा नियंत्रण रखेंगे।

कुर्दू गांव में दो चेक डैम बनाए गए। पास ही भोसारे गांव में जहां कुल 1894 परिवारों में 8961 लोग रहते हैं। भोसारे गांव में तीन चेक डैम बनाए गए। नितिन सूर्यभान भुसारे का पोल्ट्री कारोबार है। पानी की उपलब्धता से उनके खेतों को भी नई जान मिली और वे लहलहाने लगे हैं। हनुमंत जगताप कहते हैं कि औसतन हर परिवार को टैंक भरने के लिए 10,000 लीटर पानी की आवश्यकता होती है। इसकी लागत करीब 2,000 रुपए पड़ती है, लेकिन इतना पानी भी पर्याप्त नहीं होता था। अब बांध बन जाने के बाद न केवल पानी से भूजल रिचार्ज होता है, बल्कि गांव वालों को अपनी जिंदगी में पहली बार लबालब भरा हुआ पानी और लहलहाती हुई फसलें देखने को मिल रही हैं। वर्षा आधारित कृषि अब चिंता का विषय नहीं है, क्योंकि जो पानी 600 फीट की गहराई पर मिलता था, वह अब 5 फीट ऊपर मिलने लगा है। यह हर लिहाज से एक बड़ी उपलब्धि है। किसान एक से अधिक और विविधतापूर्ण फसलों की खेती कर पा रहे हैं। उन्हें औसतन प्रति एकड़ खेत के हिसाब से एक लाख रुपए की बचत हो रही है। किसानों को इससे लाभ तो हो ही रहा है साथ ही उनका आत्मविश्वास भी बढ़ा है। बेंदवाड़ा बांध (Bendvada dam) के निर्माण के रूप में बड़ी उपलब्धि हासिल करने के बाद अब इसके निर्माण का विस्तार करने की बात कही जा रही है, ताकि नीचे की ओर स्थित चार और गांव इसके दायरे में शामिल हो सकें। ऐसा होने से इन गांवों को भी पीने का पानी मिलेगा और ऐसे ही अन्य लाभ भी उन्हें हासिल होंगे।

गणेश और माधा फाउंडेशन के धनराज ने साथ मिलकर 37 किलोमीटर लंबाई वाली इस महत्वाकांक्षी परियोजना का नेतृत्व किया। उनके पास इस क्षेत्र में खेती को स्थायी बनाने को लेकर अनेक अन्य योजनाएं भी हैं। अवधारणा से लेकर क्रियान्वयन तक के चार वर्ष के इस कठिन सफर और उसके बाद प्राप्त हुए परिणाम ने उन्हें अभीभूत कर दिया है। फसल बुवाई के स्वरूप में बदलाव, धीरे-धीरे आय के वैकल्पिक स्रोतों को अपनाने तथा अधिकतम उपज पाने एवं गुणवत्ता के लिए वैज्ञानिक तौर-तरीकों को अपनाने से यहां के सामाजिक-आर्थिक समीकरणों में बदलाव आया। पहले हर वर्ष एक फसल होती थी, उसकी जगह दो फसलों ने ली और फिर भंडारण के बेहतर बुनियादी ढांचे तथा फसल पर अच्छे प्रतिफल के चलते एक साल में कई फसलें ली जाने लगीं। यह सब किसानों को संगठित करने तथा किसान उत्पादक संगठन को सरकार के समर्थन की वजह से सुनिश्चित हुआ। इस दौरान उपरोक्त सीबीओ ने भी उनकी पूरी मदद की। जब दो वर्ष में पानी की समस्या समाप्त हो गई, तो विधानसभा के सदस्यों का ध्यान टूटे हुए बांध की मरम्मत करने की ओर गया। इस बात पर पहले ही जोर दिया जा चुका था कि बांध का पूरा लाभ उठाने के लिए पानी को पंप के जरिये ऊपर पहुंचाया जाए। परियोजना का विस्तार करके और अधिक गांवों को इसमें शामिल किया जाएगा तथा इसी मॉडल का अनुकरण किया जाएगा, ताकि कृषि, पर्यावास तथा समता आदि सभी पहलुओं को छुआ जा सके। किसानों का संघ बेंदवाड़ा नाले के विस्तार और वाटरशेड के काम के स्वाभाविक निष्कर्ष के रूप में सामने आया। माधा तालुका के नीमगांव में मौजूद हाईटेक और पूरी तरह डिजिटल एफपीओ विट्ठल गंगा करीब 500 वर्गफीट क्षेत्र में है। इसमें करीब 4,000 किसान अंशधारक हैं, जो अकुंठ फॉर्म के नाम से एग्रो-वेंचर को आकार दे रहे हैं। यह एफपीओ कृषि-निर्यात तथा कृषि-बाजार के क्षेत्र में काम करेगा। इसका पूरा नियंत्रण उत्पादकों के पास होगा तथा प्रयोगशाला परीक्षण, नर्सरी और लॉजिस्टिक सुविधाएं होंगी। यहां डिजिटल ट्रैकिंग तथा प्रमाणन की व्यवस्था भी होगी। एफपीओ पहले ही 5 कंपनियों के साथ सौदा कर चुका है और वे जैविक खेती शुरू करने की तैयारी कर रहे हैं।

निष्कर्ष

माधा तालुका में वाटरशेड का काम कृषि के स्थायी मॉडल तैयार करने की दिशा में मील का पत्थर साबित हुआ है। यहां किसानों की एक संघ के जरिये संगठित और खेती के पारंपरिक तौर-तरीकों में सुधार करके ये मॉडल तैयार किए गए। बाजार मानकों का अनुसरण करके और एफपीओ के समर्थन वाली नीतियों का लाभ लेकर किसानों को खेती के अपने कौशल और बुद्धिमत्ता के बारे में भरोसा पैदा हुआ। जलसंकट को पहचानने और सामाजिक-आर्थिक स्थिति पर इसके प्रभाव ने समुदाय को प्रेरित किया कि वह जलधारा में नई जान फूंकें। इसके परिणामस्वरूप जलस्तर में सुधार हुआ, खेती बेहतर हुई, उपज में भी सुधार हुआ और अंतत: उन्हें अपने श्रम का उचित मूल्य मिलना शुरू हुआ। दो वर्ष के भीतर 37 किलोमीटर के बेंदवाड़ा बांध के निर्माण से लाभान्वित हुए गांव अब बदलाव के वाहक बन चुके हैं और जलसंकट से जूझ रहे आसपास के गांवों के लिए भी ऐसी ही योजनाएं तैयार करने में लगे हैं। आय में जबरदस्त सुधार के साथ संघ के सदस्य करीब 4000 किसान साल में दो फसलें ले रहे हैं और साथ ही वे इस बात को लेकर भी आश्वस्त हैं कि उनकी फसल गुणवत्ता मानकों पर खरी उतरेगी। वे अपनी फसल को डिजिटल तरीके से ट्रैक भी कर सकते हैं। कुछ ही समय में वे पांच बड़ी कंपनियों का समर्थन पा चुके संघ की मदद से पूर्ण संचालित बाजार में शामिल हो जाएंगे। किसान हाल की बाढ़ में बांध के टूटने पर उसकी मरम्मत की मांग करने, बहकर बर्बाद हो जाने वाले पानी को गांव के बांध तक पहुंचाने, पानी को पंप द्वारा ऊपर तक पहुंचाने और पानी के समतापूर्ण बंटवारे तथा बांध का विस्तार करके आसपास के गांवों को लाभ पहुंचाने की मांग करने में भी पीछे नहीं हैं। उनकी चिंता वाजिब है और उनका रुख भागीदारी वाला और उद्यमितापूर्ण है और इसके लिए ये गांव हमेशा से जाने जाते हैं। परिस्थितियों से समझौता करने के बजाय यहां के किसानों ने खेती करनी जारी रखी और प्रगति करने तथा जीवन के लक्ष्य हासिल करने के लिए वैकल्पिक तरीके खोज निकाले।

मगन संग्रहालय

ग्रामीण औद्योगिक क्रांति का अग्रदूत

वर्धा और सेवाग्राम महात्मा गांधी की प्रयोग भूमि रहे हैं। गांधी ने अपनी अर्थव्यवस्था और शिक्षा को लेकर यहां जो प्रयोग किए, वे उनकी कल्पना के आजाद भारत की तस्वीर को स्पष्ट करते हैं। एक सुरुचिपूर्ण एवं साधन गांव की परिकल्पनाओं को फलीभूत करने की पहल ही 'मगन संग्रहालय' है। महात्मा गांधी द्वारा वर्धा में बिताए जीवन के अंतिम 15 वर्ष भविष्य के भारत की नींव तैयार करने में लगे थे। मगन संग्रहालय की कहानी, बापू के सपने की अभिव्यक्ति ही तो है।

महात्मा गांधी का व्यक्ति में विश्वास था, व्यक्तिवाद में नहीं। उनके द्वारा स्थापित तमाम संस्थान इसके गवाह हैं। मगन संग्रहालय, पूर्व में मगन कोठी कहलाता था, महात्मा गांधी सेवाग्राम में बसने से पहले 2 वर्ष इसमें रहे थे। यह संस्थान उनके भतीजे मगनलाल गांधी के नाम पर है, जो फीनिक्स आश्रम के समय से ही उनके काम संभालते रहे। सन् 1928 में 45 वर्ष की अल्पायु में उनकी असामायिक मृत्यु हो गई थी।

महात्मा गांधी के वर्धा पहुंचने के बाद 'मगनवाड़ी' के छोटे-छोटे छप्परों में हाथ-चक्की, बागवानी, तेलघानी, मधुमक्खीपालन जैसे काम होने लगे थे। इसे स्थायित्व प्रदान करने के उद्देश्य से गांधी विचार के अर्थशास्त्री श्री जे.सी. कुमारप्पा के नेतृत्व में सन् 1938 में यहां से ग्रामीण उद्योगों को स्थापित करने का दौर प्रारंभ हो गया, वे मगन संग्रहालय की नींव ही हैं। यह संस्थान नए भारत को लेकर महात्मा गांधी के औद्योगिकीकरण की संकल्पना का आधार स्तंभ है। तभी उन्होंने कहा था- 'यह संग्रहालय ग्रामोद्योग की तकनीकों का प्रदर्शन मात्र न रहे, बल्कि तकनीकों को रचनात्मक झांकी देने वाला ऐसा स्थान बने, जो परिवर्तनशील हो। यह आम आदमी के शिक्षण का स्थान बने। ऐसा शिक्षण जिससे देश के आम आदमी को उत्पादन की नई तकनीकों की जानकारी द्वारा मदद मिल सके।' यही वह दौर था जब ग्रामोद्योगों के औचित्य पर चिह्न लगाए जा रहे थे, लेकिन बापू अडिग थे। मगन संग्रहालय के उद्घाटन भाषण में उन्होंने कहा था- 'आलोचक शायद यह पूछेंगें कि इन पुराने औजारों और उत्पादन की क्रियाओं से स्वराज्य किस तरह हासिल होगा? यह तो हमारे पास पहले से ही थे। क्या हम पश्चिमी औद्योगिकीकरण से बाजी मार सकेंगे? मेरा जवाब है हमारे पूर्वज इनमें छुपी प्रचंड शक्ति को पहचान नहीं पाए थे। लोगों को लगता होगा कि खादी और ग्रामोद्योग का पुनरुद्धार शायद मध्य युग की ओर लौटने जैसा है, पर मैं चाहता हूं आप पूर्वाग्रह छोड़कर इस उद्योग भवन में प्रवेश करें। कल्पना कीजिए चरखा एक छोटीसी मिल है, जिसकी सहायता से सतत् और सर्वत्र फैली हुई बेकारी और कंगालियत से भरे देश में आदमी घर बैठे दो आना रोज कमा सकता है और अगर यह न हो उसे दो पैसे भी नहीं मिलेंगे। इस मिल की स्थापना लाखों घर में हो जाए, तो और जो हो भी सकती है, तो फिर मैं सारे संसार में ऐसी एक भी चीज नहीं देखता, जो इसके साथ प्रतिस्पर्धा में उतर सके।' यह बात सन् 1938 की है।

'मंगल संग्रहालय' को अब मगन संग्रहालय समिति संचालित करती हैं। इसे सन् 1967 में पंजीकृत किया गया था। सुश्री विभा गुप्ता वर्तमान में इसकी अध्यक्ष हैं। इसके न्यासी मंडल (ट्रस्ट) में संस्कृति मंत्रालय, गांधी स्मारक निधि, खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड व राष्ट्रीय गांधी संग्रहालय से एक-एक सदस्य रहते हैं। सर्वसेवा संघ इसमें 4 सदस्य नामित करता है। इसके अलावा सर्वश्री श्रवण गर्ग, अशोक अग्रवाल, अजय कुमार, करुणा फुटाने, मनीषा पेंटे और उपमा दीवान इसके न्यायी मंडल में हैं।

विभाजी से चर्चा की शुरूआत संग्रहालय से हुई। संग्रहालय/उद्योग भवन में विभिन्न अंचलों में प्रचलित चरखों को दर्शाया गया है। इनकी विविधता आश्चर्यचकित करती है। यहां हाथ से बने वस्त्रों का बेहतरीन संग्रह भी है। इसे समकालीन बनाए रखा जाता है। गांधी का कहना था चरखे से हुई आय गरीबों में बंटती है। इससे संपत्ति का न्यायपूर्ण और लगभग समान बंटवारा हो जाता है। इसका नैतिक महत्व भी है। गांधी दर्शन में शिक्षा का बेहद महत्व है और यह किताबी ज्ञान तक सीमित नहीं है। मगन संग्रहालय इसी दर्शन के आधार पर वर्धा जिले में 24 तकली स्कूल स्थापित कर चुका है। यहां तकली पर केंद्रित तमाम कार्यक्रम होते है। वर्धा के प्रत्येक पुलिस थाने में इन्हीं स्कूलो में कूड़े-कचडे से बने डस्टबिन देखे का सकते है। यानी तीन नहीं दस उंगलियों वाली शिक्षा। पहली से दसवीं तक के बच्चे विभिन्न प्रतियोगिताओं में हिस्सा लेते हैं। इनमें से 1000 बच्चों को संग्रहालय कार्ड बनाकर देता है, जिसके माध्यम से वे मगन संग्रहालय से घटी दर पर सामान खरीद सकते हैं। इससे उनका खादी व ग्रामोद्योग से जुड़ाव होता है। बच्चों के साथ नागरिक सुरक्षा के कार्यक्रम जैसे- साइकल व बैलगाड़ी पर सुरक्षा पट्टी (रिफ्लेक्टिव) लगाना भी शामिल हैं।

गौरतलब है विभाजी ने आईआईटी दिल्ली से 'ग्रामीण महिलाओं को तकनीक हस्तांतरण (Transfer of technology amongst Rural Women) पर पीएचडी की है। उन्होंने कनाडा और नीदरलैंड में भी अध्ययन किया है। वे इंडियन काउंसिल ऑफ चाइल्ड वेल्फेयर, जो कि बच्चों को वीरता पुरस्कार प्रदान करती है, की यह संस्थापक रहीं है। आपने वर्धा में सेंटर फॉर साइंस फॉर विलेज (CSV) की स्थापना की है। इसके माध्यम से जिले के 500 स्वयं सहायता समूह सक्रिय हैं। आप 'कारीगर' नामक संस्था से सक्रियता से जुड़ी हैं और इससे 2 लाख से ज्यादा कारीगर व शिल्पकार जुड़े हुए हैं। मगन संग्रहालय गांधी विचार को जानने के लिए प्रतिवर्ष एक तीन दिवसीय शिविर 'गांधी को जाने' का आयोजन श्री कुमार प्रशांत के माध्यम से करता है। 15 अगस्त, 26 जनवरी के अलावा कुमारप्पा दिवस, गांधी कस्तूरबा

जयंतियां, महिला दिवस आदि पर कार्यक्रम होते हैं। 'साइकिल जिंदाबाद' के नाम से साइकिल रैली होती है। प्रत्येक कार्यक्रम के अंतिम दौर में प्रार्थना और अंत में सूत काता जाता है। संग्रहालय के मूल्यांकन के लिए प्रति शनिवार बैठक होती है। बैठक से पहले श्रमदान होता है। सभी समाधान इसी से निकलते हैं। संग्रहालय के विभिन्न गांवों में अलग-अलग उद्योगों के 9 केंद्र हैं, इनमें 100 से ज्यादा लोग कार्य करते हैं तथा इनमें से केवल 12 व्यक्ति ही वेतन भोगी हैं। बाकी के स्वयं इन उद्योगों से अर्थोपार्जन करते है। खादी से संबंधित उद्योग में 300 लोग कार्य करते हैं । यह भी आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हैं। इस मद में संस्था का लेन-देन करीब 5 करोड़ रु. का है। संग्रहालय सरकारी मदद कम ही स्वीकार करता है।

संग्रहालय खेती-किसानी में भी बेहद सक्रिय है। यहां देशी फसल और तकनीक का उपयोग होता है। संस्था फसलों के बीज सभी किसानों को देती है, जिससे कि शुद्धता बनी रहे। किसान एक तरह की सामूहिक खेती करते हैं। संस्था अपने किसी भी कर्मचारी को वेतन नहीं देती, वे वेतन स्वयं अर्जित करते हैं। वैसे यहां वेतन का ढांचा (सेलेरी स्ट्रक्चर) मौजूद है। भविष्य निधि जैसी सुविधाएं भी उपलब्ध हैं। संग्रहालय में एक रेस्टोरेंट भी है। इसमें 35 लोग काम करते हैं। मगन संग्रहालय कमोवेश आत्मनिर्भर है और खादी कमीशन (KVIC) से कोई राशि नहीं लेता। मगन खादी यहां की विशेषता है। यह पूरी तरह से ऑर्गेनिक है। संस्था ने खादी के टीशर्ट भी तैयार किए हैं। यहां खेती (कपास उगाने) से लेकर कपड़े को तैयार करने तक की सभी प्रक्रियाएं होती हैं। विभाजी के पिता देवेंद्र भाई विनोबा के बहुत नजदीकी थे। वे कुछ समय मध्यप्रदेश में इंदौर के निकट माचला में भी रहे। उन्हें 'कच्ची मिट्टी का पक्का वैज्ञानिक' कहा जाता था। विभाजी उन्ही के कार्य को नए आयाम दे रही हैं।

संस्थान आज 150 गांवों में कार्यरत है और 1200 समूह इसके अंतर्गत जुड़े हैं। प्रत्येक में 10 से 12 सदस्य हैं, यानी करीब 15000 लोग सीधे जुड़े हैं। इनके साथ 22 बैंकों को भी जोड़ा गया है और इनका लेन-देन 15 करोड़ रु. वार्षिक से ज्यादा है। खेती के अलावा कुल 23 कुटीर उद्योग सक्रिय है। 200 से ज्यादा चरखे भी कार्यरत हैं। इन कुटीर उद्योगों में नमक, चटनियां, अचार, तेल, गुड़, साबुन, अगरबत्ती, सौंदर्य प्रसाधन व आयुर्वेदिक दवाओं का उत्पादन स्थानीय स्तर पर होता है। यही गांधी का सपना भी था कि स्थानीय उत्पादन व स्थानीय उपभोग। संस्था की अपनी बेकरी भी है।

इसे स्थानीय महिलाएं ही संचालित करती हैं। संस्थान में खाद्यान्न पर भी कार्य होता है। यहां लेंटेना की संटियों (डंडियों) से फर्नीचर बनाने का काम भी होता है। तमाम छोटे औजार भी यहां तैयार किए जाते हैं। हाथकरघा विभाग के अलावा वस्त्र छपाई व रंगाई का काम भी बड़े पैमाने पर होता है। विभाजी का कहना है कि संस्था सालभर में 30 लाख रु. का सिर्फ गुड़ बेच लेती है। इससे संस्थान की बिक्री का अंदाजा लगाया जा सकता है। उन्होंने बताया कि ताड़ के पत्तों को बारीक काटने की मशीन तैयार की है, जिसकी कीमत मात्र दस हजार रु. है। इससे कामगारों के हाथों का कटना-फटना कम हो गया है। खेती में गांवों की अपनी पाठशालाएं हैं, जहां वे अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं ही करते हैं। वे स्वयं शिक्षक हैं और स्वयं ही विद्यार्थी। इनमें सारे निर्णय सामूहिक होते हैं। अभी 1000 किसान अलसी की खेती कर रहे हैं। संस्थान की अपनी तेल घानी व कपास एवं पूंजी यूनिट है। तेल से निकली खली मुख्यतः स्थानीय बकरियों को दी जाती है। इससे उनका दूध बढ़ता है। यहां सब्जियों की नर्सरी भी है। संस्थान किसानों के लिए मोबाइल वर्कशाप भी संचालित करता है। इसके माध्यम से किसानों के कृषि यंत्रों की मरम्मत गांवों में ही हो जाती है। परिणामस्वरूप उनका धन व समय दोनों ही बचते हैं।

संस्थान की एक अनूठी संकल्पना 'सर्पमित्र' है। वर्धा और उसके आसपास खतरनाक कोबरा सांप बड़ी संख्या में है। सांप खेती के लिए उपयोगी होते हैं। इस संग्रहालय के विशेषज्ञ सांप को पकड़कर जंगल में छोड़ देते हैं। यहां की एक अन्य विशेषता है 'उल्लूमित्र'। उल्लू बड़ी संख्या में चूहों का शिकार कर खेती को सुरक्षित करते हैं। संस्थान उल्लू के मंदबुद्धि होने की बात को नकारता है। इसके अलावा मधुमक्खी और शहद पर भी काम होता है। संस्थान का मानना है कि प्राकृतिक खेती में मानवीय हस्तक्षेप कम से कम होना चाहिए। वे खेत में चीटियों के योगदान को भी रेखांकित करती हैं। विभाजी का मानना है कि यदि सांप, केंचुआ, चींटी, उल्लू, चिड़ियाओं और मधुमक्खी को अपना-अपना काम करने दिया जाए, तो पर्यावरण बेहतर हो सकता है। साथ ही तीन साल में मिट्टी का रंग तक बदलने लगता है और वह अधिक उपजाऊ हो जाती है।

निष्कर्ष

मगन संग्रहालय संभवतः एकमात्र ऐसी संस्था है, जिसकी स्थापना और लंबे समय तक संचालन स्वयं महात्मा गांधी ने किया था। स्थापना के 85 वर्षों बाद भी इनकी सक्रियता देखते बनती है। इस संस्थान ने विकास की पश्चिम आधारित सोच को हमेशा चुनौती दी है। नई तकनीक के चयन में बेहद सावधानी बरती गई है। यहां के सभी उत्पाद विश्वस्तरीय हैं। शायद ही कोई और संस्था होगी, जिससे कि 20 हजार से ज्यादा सदस्य सीधे जुड़े हुए हों। संस्थान इतना आत्मनिर्भर है कि इसके सदस्य तक वेतन के लिए इस पर निर्भर नहीं हैं। यह संस्थान भारतीय संस्कृति में निहित विविधता का सजीव उदाहरण है। नौ दशक की इसकी यात्रा बेहद रोमांचित करती है। गांधीजी मानते थे कि यदि देश चरखे से कमाई करता है, तो धार्मिक भेदभाव व आर्थिक असंतुलन दोनों में कमी आएगी। उनका मानना था कि इस तरह का समाज स्वराज्य के बेहद करीब होगा और इस औद्योगिक क्रांति में भाग लेने के लिए बहुत बड़ा इंजीनियर या यंत्रशास्त्री होने की जरूरत नहीं। कोई भी सामान्य पुरुष, स्त्री या बालक इसमें शामिल हो सकता है। अंत में गौर करते हैं, जो उन्होंने मगन संग्रहालय के बारे में कहा था, 'मैं चाहता हूं कि आप सब लोग इस संग्रहालय और उद्योग भवन को एक खिलौने की दुकान नहीं, बल्कि स्वशिक्षण व अध्ययन का जीवित ग्रंथ समझें।'

किसान अधिकार अभियान

आंदोलन से समाज को संस्कारित होना चाहिए

भारत में कृषि और कृषक पर संकट लगातार बढ़ते जा रहे हैं। देश के अधिकांश किसान आंदोलन फसल के मूल्य को लेकर स्वयं को केंद्रित कर लेते हैं, परंतु आवश्यकता है कि कृषि में नीतिगत स्तर पर हस्तक्षेप कर किसान और कृषि अनुकूल नीतियों का समावेश किया जाए। साथ ही यह भी आवश्यक है कि नीतियों के निर्माण के दौरान स्थानीयता के समावेश की गुंजाइश भी रखी जाए। भारत जैसे विशाल और विविधता वाले भौगोलिक देश में एक नीति सभी स्तर पर कारगर सिद्ध नहीं हो पाएगी।

पुराणों में मानव सभ्यता के पहले राजा पृथु वैन्य की रुचिकर कहानी कही गई है। वह पहला निषाद था, जिसकी रचना ऋषियों ने की थी। बाद में निषाद एक ऐसी जाति या समुदाय में परिवर्तित हो गया, जो कि शिकार करने और वन्य पदार्थों को इकट्ठा कर अपनी जीविका चलाता था। ऋषियों ने निषाद को वनवास दे दिया, जहां वह शिकार और कंद मूल आदि से अपना जीवनयापन करता था। पृथु वैन्य की सृष्टि बाद में हुई। इसने पशुपालन और कृषि का श्रीगणेश किया। इससे प्रसन्न हो पृथ्वी माता ने उसे अपना नाम दे दिया। धीरे-धीरे भूमि को भी संपत्ति माना जाने लगा। गौरतलब है इससे पहले सबसे मूल्यवान संपत्ति गाय ही थी। वैदिक काल में गोमत का अर्थ धनवान व्यक्ति हो गया था। मूल्य की इकाई गाय थी। एक मनुष्य की जान की कीमत 100 गाएं (शत देय) थीं। गाय ने धार्मिक

पवित्रता प्राप्त की। धीरे-धीरे कृषि को पशुपालन पर प्राथमिकता प्राप्त हो गई। परवर्ती वैदिक साहित्य में 6 से लेकर 24 बैलों से हल चलाकर जुताई करने के उल्लेख आते हैं। वैसे यह भी महत्वपूर्ण है कि वैदिक साहित्य में भूमि के विक्रय का कोई उल्लेख नहीं मिलता! (रोमिला थापर की पुस्तक 'वंश से राज्य तक' का अंश)

इक्कीसवीं सदी की किसी संस्था पर लिखते हुए पुराणकालीन संदर्भों का उल्लेख एकाएक गले उतरना कठिन है, परंतु यह कथन इसलिए सामयिक है, क्योंकि वर्तमान में शासन की प्राथमिकताओं में कृषि सबसे निचले स्तर पर पहुंच गई है। वर्धा स्थित 'किसान अधिकार अभियान' के सचिव अविनाश काकाड़े से बात करते उपरोक्त कथन स्मरण हो आया। वजह यह थी कि जहां अधिकांशतः लोग खेती, किसानी और किसान के संकटों से विमुख हो रहे हैं, वहीं अविनाश काकाड़े और उनके साथी, अपनी पूर्ववर्ती तमाम गतिविधियों को थोड़ा सिकोड़कर ज्यादातर किसान और किसानी की समस्याओं की ओर मुड़ गए हैं। अविनाश ने सन् 1994-95 में सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया। शुरूआत में उनका कार्य (गांधी विचार) प्रचारात्मक ही रहा। वे जहां एक ओर राष्ट्रीय युवा संगठन से जुड़े, तो दूसरी ओर गांधी विचारों को जानने-समझने के लिए सबसे पहले वरिष्ठ गांधीवादी ठाकुरदास बंग के पास गए। इसी बीच सन् 2000 से किसान हत्याओं (वे इन्हें आत्महत्या नहीं कहते) में एकाएक तेजी आई, खासकर विदर्भ के इलाकों में। इस विपदा के समय उन्होंने 'सर्वसेवा संघ' के माध्यम से कार्य करना शुरू किया। सन् 2001 तक नई आर्थिक नीति के दुष्परिणाम सामने आने लगे थे। इस नई नीति ने खेती-किसानी व किसान को सबसे ज्यादा चोट पहुंचाई या नुक्सान पहुंचाया। अतएव वे पारंपरिक या जैविक खेती की ओर अग्रसर हुए। प्राकृतिक खेती के नियम-कायदों को सीखने समझने का प्रयास किया। कुछ समय तक श्री सुभाष पालेकर के साथ कार्य किया। एकला चलो रे के संकल्प के साथ सन् 2003-04 में स्थानीय स्तर पर कार्य प्रारंभ किया।

वैसे इसके पूर्व सेवाग्राम के आस-पास के गांवों में (सन् 2002 से) नशाबंदी व ग्रामसभा के सशक्तीकरण की दिशा में कार्य प्रारंभ किया। इसी के साथ ग्राम पंचायतों में भी कार्य शुरू किया। गौरतलब है बापू ने सेगांव (सेवाग्राम) में आकर सबसे पहले साफ-सफाई का कार्य ही शुरू किया था। उन्होंने बताया कि हमने भी यहीं सोचा कि नए सिरे से कार्यों की शुरूआत सफाई से ही की जाए। तय किया विदर्भ के ग्यारह जिलों का साइकिल से दौरा करेंगे। तब 6 साथियों के साथ यह सफर शुरू किया और करीब 4,300 किलोमीटर की साइकिल यात्रा शुरू की। इस यात्रा को नाम दिया 'टट्टी से मट्टी'। हम अपने गांव से अलस्सबाह, जब लोग फारिग होने निकलते हैं, सूर्यादय के पहले, तभी निकल पड़ते थे। विदर्भ के गावों में खुले में और खासकर सड़क के आसपास शौच जाने का कुछ अधिक ही रिवाज है। हम लोग कुदाल व फावड़े लेकर निकलते थे। जैसे ही कहीं कोई खुले में शौच करते दिखता या मल पड़ा दिखता, हम रुक जाते। वहीं पास से मिट्टी खोदकर उस शौच पर डालते। इसके अलावा और कुछ भी नहीं कहते। धीरे-धीरे लोगों को शर्म आने लगी। शुरूआत में लोग घरों में शौचालय बनाने को तैयार नहीं होते थे, तो हम लोगों ने ग्रामसभा के माध्यम से सार्वजनिक शौचालय बनाए। सबसे शुरूआती दौर में श्रमदान से शौचालय बने। हमारी यह यात्रा करीब 6 माह तक चली, परंतु इस पूरी प्रक्रिया में करीब 3 साल लगे।

इसके बाद हमने गांधीजी के दूसरे महत्वपूर्ण कार्य 'शराबबंदी' के लिए कार्य करना शुरू किया। सेवाग्राम के आसपास के गांवों में करीब 28 भट्टियों में महुआ आदि से शराब बनाई जाती थी। महिला व पुरुष दोनों ही इसमें बराबर के सहभागी थे। हमने गांव के युवाओं को संगठित किया और उनके माध्यम से नशाबंदी के काम को शुरू किया। हमारा मानना था कि यदि विरोध स्थानीय स्तर पर और स्थानीय निवासियों के द्वारा होगा तो वह अधिक प्रभावशाली होगा। स्थानीय लोगों ने हमारा साथ दिया। हमें लगा कि इस संबंध में पुलिस को भी साथ में लेना चाहिए, परंतु हमारा अनुभव कहता है कि उसका कमोवेश उलटा प्रभाव पड़ा। हमने महसूस किया कि डंडा हमारे उद्देश्य को कमजोर कर रहा है। पुलिस के हस्तक्षेप या बीच में आ जाने से 10 रु. वाली शराब 50 रु. में बिकने लगी। हमें लगा कि हमारा आंदोलन तो एकदम उलटा असर ही डाल रहा है। एक तो शराब की उपलब्धता बाधित नहीं हुई और उससे बड़ा नुक्सान यह कि शराब अब पांच गुना कीमत पर मिलने लगी थी। इससे घरों पर बर्बादी की दोहरी मार

सर्व सेवा
वर्धा

पड़ी। हमारी समझ में आ गया कि कानून से शराबबंदी संभव ही नहीं है। बापू कहते थे कि 'मैं भारत का गरीब होना पसंद करूंगा, लेकिन मैं यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि हजारों लोग शराबी हों। अगर भारत में शराबबंदी जारी रखने के लिए लोगों को शिक्षा देना बंद करना पड़े, तो कोई परवाह नहीं, मैं यह कीमत चुकाकर भी शराबखोरी को बंद करूंगा।'

अविनाश व साथियों को महसूस हुआ कि ग्रामीण समाज अधिकांशतः कृषि पर ही निर्भर है। जिले के किसानों से सन् 1994-95 में बातचीत शुरू की। उन्होंने रासायनिक खेती के दुष्प्रभावों के बारे में सुन व देख रखा था। थोड़ी खेती अपने घर पर भी थी। धीरे-धीरे कुछ लोग जुड़े और यह संख्या 50-60 तक पहुंच गई। हम लोगों ने जैविक खेती पर कार्य शुरू किया। 2-3 वर्ष तक यह कार्य किया। इस दौरान हमारी समझ में आया कि हम लोग जो उत्पादन करते हैं, उसका कोई विशेष बाजार नहीं है। कीमत भी मनचाही नहीं मिल पाती है। तब आवश्यकता महसूस हुई कि इन उत्पादों का प्रोसेसिंग किया जाए। सन 2006 में ग्रामोद्योग की प्रक्रिया प्रारंभ की। तब से यह इकाई चल रही है। हमने इसके अंतर्गत जैविक पदार्थों की प्रदर्शनियां भी लगाईं।

उन्होंने बताया कि सन् 2008 में सोयाबीन के मौसम में भारी अकाल पड़ा। विदर्भ में अधिकांश कृषि क्षेत्र वर्षा आधारित (Rainfed) है। विदर्भ में पिछले 40-45 वर्ष में कभी इतना भयंकर अकाल नहीं पड़ा था। दीपावली भी आ रही थी। यह समस्या मुंह बाए खड़ी थी कि किसान जिएंगे कैसे? वे तो दीवाली भी नहीं मना सकते थे। हमारे समूह ने तय किया कि जब किसान दीवाली नहीं मना पा रहे हैं, तो हम भी दीवाली नहीं मनाएंगे। हम लोग उस दिन उपवास रखेंगे। यह भी निश्चय किया कि दीवाली पर हम अपने - अपने घरों में नहीं रहेंगे और अकाल पीड़ितों के साथ सहानुभूति में वर्धा में बजाज चौक के पास 36 घंटे का उपवास रखेंगे।

इस उपवास के दौरान हुए आपसी विमर्श में यह तय हुआ कि हमें अन्य कार्यों के समानांतर कृषि नीति परिवर्तन पर कार्य करना चाहिए। दो दिन बाद तय किया कि 'किसान अधिकार अभियान' को शुरू किया जाए। इस अभियान की शुरूआत दिसंबर 2008 में 'भजन सत्याग्रह' से हुई। गांवों से हजारों की संख्या में भजन मंडलियां इस सत्याग्रह में शामिल हुईं। यह आंदोलन करीब 24 दिन तक चला। इसी दौरान सेवाग्राम में सत्याग्रहियों को प्रशिक्षित किया गया। हमने तय किया कि राष्ट्र व राज्य में न्यूनतम समर्थन मूल्य के लिए संघर्ष किया जाए। साथ ही खेती में हुए नुक्सान को मापने के तरीके में सुधार भी किया जाए। गौरतलब है कि यदि बारिश (65 मि.मी. से कम) हो, तो ही मुआवजा दिया जाता है। हमने पूछा कि आपको कैसे पता लगेगा कि किस गांव में कितना पानी बरसा है। बारिश मापने का मीटर तो तहसील मुख्यालय पर ही है। हमारी मांग थी कि इसका विस्तार हो। हमने आंदोलन शुरू किया। मुख्यमंत्री जब वर्धा में आए, तो उन्हें रोका और यह तय किया कि जब तक इस बात का निर्धारण नहीं हो जाता, तब तक मुख्यमंत्री को वर्धा जिले में प्रवेश नहीं करने देंगे।

सन् 2010 में मेरे सहित 10 लोगों को जेल में बंद कर दिया गया। हमने भी तय किया कि हम जमानत ही नहीं लेंगे। मामला विधानसभा में उठा। वहां सरकार ने माना कि अब वर्धा जिले के मंडलों में प्रत्येक 8 से 10 गांवों के बीच एक वाटरगेज मीटर होगा। पायलेट परियोजना के रूप में इसे वर्धा व पूना जिले में शुरू किया गया। इससे मुआवजा मिलने की प्रक्रिया भी तेज हुई। पहले जहां 200 गांवों के बीच एक वाटरगेज मीटर होता था, अब वही मीटर 10 गांवों में हो गया था। इस वजह से तमाम गांवों को अतिवर्षा का मुआवजा भी मिलना शुरू हो गया।

इसके पश्चात हमने आनावारी पद्धति को लेकर आंदोलन किया। हास्यास्पद स्थिति तब बनी, जब सूखाग्रस्त एक गांव में अकाल की स्थिति में एक किसान का मुआवजा 50 पैसे (पचास पैसे) निर्धारित किया गया। हमने कृषि विद्यापीठ व वनामती कृषि विश्वविद्यालय नागपुर में जाकर इस विषय पर चर्चा की और जिला उप-कार्यालय स्तर पर मुआवजे की राशि के यथायोग्य होने की प्रक्रिया की शुरूआत की। सन् 2012 में एमएसपी को लेकर संघर्ष चल ही रहा था कि बिजली बोर्ड ने बिजली कनेक्शन शुल्क में जबरदस्त वृद्धि कर दी। समय था कपास, गेहूं व चने की फसल की बुनाई का। किसान कमोवेश कनेक्शन ले पाने में स्वयं को असमर्थ पा रहे थे। इस निर्णय से दो

तरह के नुक्सान हो रहे थे। पहला किसान को व्यक्तिगत आर्थिक हानि और दूसरा देश में उत्पादन का कम होना। पूरे विदर्भ में बिजली बोर्ड के कार्यालयों पर धरना प्रदर्शन किया गया। तब भी मुख्यमंत्री को विदर्भ में प्रवेश नहीं लेने दिया गया। राज्य के कृषि विभाग के कार्यालयों व बिजली बोर्ड के दफ्तरों में ताला जड़ दिया गया। हजारों लोग जेल गए। मुख्यमंत्री का बहिष्कार भी जारी रहा। हम सब भी हिरासत में थे। पृथ्वीराज चव्हाण तब मुख्यमंत्री थे। उन्होंने गृहमंत्री को मंत्रणा के लिए भेजा। हमारे शिष्टमंडल ने गृहमंत्री से मुलाकात की और रबी फसल के लिए विद्युत कनेक्शन की आकस्मिक स्वीकृति दी। इससे 40000 किसानों को फायदा हुआ।

अविनाश का कहना है कि आज की सबसे बड़ी आवश्यकता किसान के अधिकारों व हितों की रक्षा के लिए संघर्ष करने की है। किसान खेती-किसानी में इतना व्यस्त हो जाता है कि उसके पास अपने हितों के लिए संघर्ष करने के लिए समय नहीं बच पाता है। आज बिजली की कमी है, तो कल पानी की। कभी पानी कम बरसा, तो कभी ज्यादा। बीज की कमी। खाद की कमी। बैंकों की मनमानी। साहूकारों की रंगदारी। सरकारी खरीदी में कमी या रुकावट। बाजार में दलालों के माध्यम से बिक्री और समय पर राशि न मिल पाना। कोई एक मुसीबत हो, तो वह निपटे। इसके अलावा बहुत सारी समस्याएं व कठिनाइयां एकसाथ भी चलती रहती हैं। जे.सी. कुमारप्पा ने आज से करीब 70 बरस पहले (सन् 1957) गांधी अर्थ विचार में लिखा था- 'खेती पर जो मदद आज काम करती है, उसमें गुलामी की बू आती है। वैसे देशभर में ऐसे कई तरीके बरते जाते हैं, जिनका इंसानियत से कोई वास्ता नहीं।'

अविनाश व समूह ने तय किया कि किसानों की लड़ाई को अब सांस्थानिक स्वरूप देना आवश्यक हो गया है। अनौपचारिक रूप से तो समूह कार्य कर ही रहा था। यह आवश्यक जान पड़ रहा था कि समूह को विस्तारित किया जाए और कुछ व्यवस्था की जाए जिससे कि आकस्मिकता की स्थिति में भी कार्य सुचारु चलता रहे और प्रत्येक गतिविधि के लिए नए सिरे से धनसंग्रह की आवश्यकता भी न पड़े। इसी के चलते सन् 2012 में 'किसान बहुउद्देशीय संस्था' का पंजीयन करवाया गया। इसका मुख्य कार्यालय बैचलर रोड, मगनवाड़ी के पास, वर्धा (महाराष्ट्र) में है। श्री सुदामा पंवार इसके अध्यक्ष हैं और अविनाश काकाड़े इस संस्था के सचिव। संगठन में 2000 से ज्यादा सदस्य हैं और प्रत्येक किसान प्रतिवर्ष 100 रु. संस्था को देता है।

जैसा कि पहले कहा था कि किसान स्थायी संकट में ही बना रहता है। फरवरी 2014 में सरकार ने एकाएक घोषणा कर दी कि अब न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) पर गेहूं नहीं खरीदा जाएगा। ऐसा नियम बना जिसके अंतर्गत खुले बाजार में, बाजार की तयशुदा कीमत पर ही गेहूं बेचना होगा। खरीदी के सेंटर (केंद्र) बंद कर दिए गए। हम किसानों को लेकर जिला विपणन अधिकारी डीएमओ के पास पहुंचे। वे ही भारतीय खाद्य निगम (एफसीआई) के लिए खरीदी करते हैं। हम सारा गेहूं लेकर उनके कार्यालय पर पहुंचे और उनके केबिन में घुस गए। हमने उनसे गेहूं खरीदने को कहा। वे बोले किसके आदेश से आप गेहूं लाए हैं। उनका कहना था कि आप लोग गेहूं वापस ले जाओ, पर हमारा उनसे कहना था कि हम गेहूं वापस नहीं ले जाएंगे। हम उस दफ्तर में 8 दिन तक बैठे रहे। उन्होंने पुलिस को बुलाया और पुलिस ने कहा आंदोलन करना है, तो बाहर जाकर करो। हमने कहा कि हम आंदोलन नहीं कर रहे हैं। हमने पुलिस से कहा कि यदि आपको हमारे यहां रहने से दिक्कत हो रही हो, तो आप समर्थन मूल्य पर गेहूं खरीद लो। तभी ऊपर से खबर आई कि विधानसभा में इस विषय पर चर्चा होगी।

2 दिन चर्चा हुई। सभी समाचार-पत्रों में व अन्य मीडिया में मामला प्रमुखता से आया। इसी बीच किसान नेता राजू शेट्टी भी आ गए। उन्होंने कहा यदि सरकार नहीं मानेगी, तो हम मुख्य चौक में गेहूं जला देंगे। संस्था ने उनके इस प्रस्ताव का विरोध किया और कहा कि हम गेहूं को जला नहीं सकते। यह अनैतिक और हिंसक कार्य है। हम किसी भी तरह की हिंसा को मान्यता नहीं देते। इसके बाद विधानसभा में पुनः इस विषय पर चर्चा हुई और सरकार ने न्यूनतम समर्थन मूल्य (एमएसपी) पर गेहूं खरीदने के निर्णय की घोषणा की। उस समय बाजार मूल्य करीब 950 रु. क्विंटल चल रहा था और सरकारी खरीदी मूल्य 1165 रु, यानी प्रति क्विंटल 215 रु. अतिरिक्त मिले। यह फायदा महाराष्ट्र के सभी किसानों को मिला।

उनका कहना है कि अहिंसा के माध्यम से कार्य करने के लिए बहुत धैर्य की जरूरत होती है। लोग हताश होने लगते हैं। हमारी कोशिश रहती है कि हम अपने आंदोलनों के माध्यम से समाज को नया संस्कार दें। सरकार के संस्कार भी लोकतांत्रिक होना चाहिए। हमारा मानना है कि हमारे आंदोलन के माध्यम से समाज को संस्कारित होना चाहिए। विनोबा भी यही कहते थे।

अभी केंद्र सरकार मिट्टी परीक्षण प्रयोगशालाएं स्थापित करने की बात कर रही है। यह अच्छी बात है, परंतु इसका क्रियान्वयन बहुत आवश्यक है। इसी के साथ फसल बीमा को भी व्यावहारिक बनाए जाने की आवश्यकता है, परंतु इन सबसे ऊपर है कृषि ऋण व्यवस्था में सुधार। कर्जे को लेकर अभी बहुत ज्यादा विचार-विमर्श की आवश्यकता है। बहुत कम लोगों को इसकी प्रक्रिया की जानकारी है। गौरतलब है फसल ऋण लेते समय फसल को नहीं, बल्कि कृषि की जगह जमीन, यानी खेत-मकान को गिरवी रखा जाता है। मान लीजिए सोयाबीन की फसल के लिए ऋण लिया है, तो फसल गिरवी होनी चाहिए। यदि फसल खराब होती है, तो फसल बीमा तो है न, परंतु हमारे यहां ऋण वापसी समय पर न होने पर वसूली के लिए जमीन ही छीन लेते हैं। क्या यह सभ्य समाज का तरीका है? सोचिए फसल के लिए जमीन गिरवी रखते हैं और वाहन के लिए वाहन गिरवी रखते हैं। यह भेदभाव क्यों? अभी हमारी संस्था इसी को लेकर नया अभियान चला रही हैं। किसानों की जमीनों को हड़पने का वैधानिक रास्ता आज हमारे सामने आ गया है।

किसानों को अधिकारों के प्रति जागरूक करते हुए हमने गांवों में प्रशिक्षण शिविरों का भी आयोजन किया। संघर्ष के साथ रचनात्मक कार्यक्रम भी जरूरी हैं। हमने सबसे पहले पानी के स्थानीय स्त्रोतों पर कार्य शुरू किया। हमारे सामने स्पष्ट था कि किसान की खेती यदि वर्षा आधारित है, तो उसके सामने एक से ज्यादा फसल ले पाना संभव ही नहीं होता। यदि एक हेक्टेयर से कम खेती है, तो समस्याएं द्विगुणित हो जाती हैं। एक बार में एक एकड़ में 7-8 क्विंटल से ज्यादा फसल आना मुश्किल हो जाता है। अतएव लोगों को जागरूक करना जरूरी है। वर्धा जिले की करीब 5 लाख हेक्टेयर कृषि भूमि में से केवल 50000 हेक्टेयर भूमि, यानी मात्र 10 प्रतिशत ही सिंचित भूमि है। मध्यम व छोटे किसानों के निवेश की भी सीमा है। स्थानीय समस्याओं के हल भी स्थानीय स्तर पर ही निकाले जा सकते हैं, परंतु यह संभव नहीं हो पा रहा है। लोगों ने सन् 1982 में ही जमीनों को लेवी मुक्त करने की मांग शुरू की थी। जल परियोजनाओं के तहत तमाम जमीन लेवी (या सीलिंग) में आ गई है। इन परियोजनाओं की वजह से यहां व्यक्तिगत जमीनों की खरीदी-बिक्री बंद है, क्योंकि यह स्पष्ट ही नहीं हो पा रहा था कि कौन-कौनसी जमीनें लेवी में आ रही हैं। कुल मिलाकर करीब 84000 हेक्टेयर जमीने लेवी में हैं। हमने सन् 2000 से 2011 तक लेवी के अंतर्गत आने वाले जमीनों को मुक्त कराने के लिए संघर्ष व अभियान चलाया। गौरतलब है, कलेक्टर की बिना

अनुमति के जमीनें बेची नहीं जा सकती थीं। हमने 227 में से 200 गांवो का दौरा स्थानीय प्रशासन को साथ लेकर किया। विधानसभा में भी इस पर चर्चा हुई। विधायक को भी इस हेतु विश्वास में लिया। सन् 2014 में 200 गावों में आंदोलन शुरू किया। यह संघर्ष सन् 2016 तक चला। इस प्रक्रिया में 197 गांव पूर्णतया लेवी-मुक्त हो गए। संघर्षरत 3 गांव अभी भी लेवी में हैं और बाकी के 27 में भी अभियान प्रारंभ हो गया है। इसमें से भी 13 गांवों को लेवी-मुक्त करने की सैद्धांतिक मंजूरी आ गई है। यहां पर आकर हमने अपनी चर्चा को विराम दिया।

निष्कर्ष

भारत में पिछले करीब 30 वर्षों में कृषि की दशा और दिशा दोनों में ही आमूलचूल परिवर्तन आया है। कृषि अब एक नए दौर से गुजर रही है, इसमें जोखिम बढ़ता जा रहा है और आमदनी लगातार कम होती जा रही है। पशुपालन व ग्रामोद्योग से भी कृषि का रिश्ता लगातार कम हो रहा है। संस्था के कार्यों को यूं तो मीडिया में कवरेज मिलता रहा है, लेकिन यहां भी संप्रेषण व अपनी आवाज को नागरिक समाज तक पहुंचाने की विशिष्टता का कमोवेश अभाव है। बदलते युग की इस अनिवार्यता को लेकर अब जागरूकता तो बढ़ रही है, लेकिन खेती में उस स्तर पर नवाचार नहीं हो पा रहा है, जिसकी अपेक्षा की जा रही थी। किसानों के संघर्ष लगातार बढ़ते जा रहे हैं, क्योंकि नई नीतियों के तहत वे कमोवेश बहिष्कृत महसूस करने लगे हैं। विदर्भ में भारत में सबसे ज्यादा किसानों ने आत्महत्या की है। इसलिए यहां संघर्ष की परिस्थिति भी अधिक है। गांधीजी भारतीय अर्थव्यवस्था की विशेषताओं की बात करते हुए इन बातों पर विशेष जोर देते है,

उसका विचार गांवों की दृष्टि से किया गया हो।

उसमें खेती और उद्योग का परस्पर निकट संबंध हो। दोनों सामान्य रूप से एक ही छप्पर के नीचे रह सकते हों।

क्या ऐसा हो रहा है? क्या ऐसा हो पाएगा?

मातृ सेवा संघ, नागपुर

महिलाओं का, महिलाओं द्वारा परंतु सबके लिए

त्याग, साहस, समर्पण, धैर्य, विचारशीलता जैसी तमाम उपमाएं, 'मातृ सेवा संघ' नागपुर पर खरी उतरती हैं। यह संस्थान साहस और बदलाव का सम्मिलित स्वरूप सामने रखता है। पांच चारपाइयों और चार-चार आने के दान द्वारा प्रारंभ हुआ यह संस्थान आज एक सुसज्जित बहुआयामी अस्पताल के संचालन के अलावा शैक्षिक एवं समाज के लिए उपयोगी अनेक आवश्यक सेवाओं का संचालन कर रहा है। सन 1921 में स्थापित हुए इस संस्थान की शुरूआत कुछ महिलाओं ने मिलकर की थी और 103 वर्ष के इसके सतत सफ़र में सिर्फ महिलाएं ही इसकी कार्यकारिणी की सदस्य रही हैं। एक शताब्दी पहले विधवा और कुंआरी माताओं के आश्रयस्थल की परिकल्पना कर पाना भी असंभव था। एक कुंआरी मां के पिता ने जब अपनी इज्जत की दुहाई दी, तो कमला ताई ने कहा- 'आप अपनी इज्जत का ख्याल कीजिए मैं आपकी बेटी का ख्याल रख लूंगी।' यह साहस और कल्पनाशीलता के चरम की अनूठी कहानी है।

महात्मा बुद्ध का काल 2,500 वर्ष से भी पहले का है। उस दौर में एक शब्द प्रचलित था 'थेरी'। थेरी उन सम्मानित महिलाओं को कहा जाता था, जिन्होंने मुक्ति प्राप्त कर ली हो। माना जाता है ऐसी पहली महिला थीं, बुद्ध की पालक मां, महाप्रजापति गौतमी। जन्म देने वाली मां और पालक मां। यह संदर्भ भगवान कृष्ण के संबंध में देवकी और यशोदा को लेकर भी आता है। गौरतलब मातृत्व या जन्म देते समय स्त्री एकदम अकेली होती है और सारा दर्द केवल उसे ही भोगना पड़ता है। इसी अकेलेपन को थेरी कृशा गौतमी, कुछ इस प्रकार से स्वर व शब्द प्रदान करते हुए कहतीं हैं- 'स्त्री होना दुख है, ऐसा मनुष्यों के चित्त को संयमी बनाने वाले उस सारथी स्वरूप भगवान बुद्ध ने कहा है-

'विद्वेषी सपत्नियों के साथ/एक घर में रहना दुख है/बच्चों को तीव्र पीड़ा में जनना दुख है/कोई कोई जनने वाली माताएं/एक बार ही मृत्यु चाहती हैं/अपना गला काट लेती हैं/ताकि दुबारा यह दुख न सहना पड़े/कुछ सुकुमारियां/विष खा लेती हैं/बच्चा जन्म नहीं लेता/बीच में रुद्ध हो जाता है/तब जच्चा-बच्चा दोनों ही विपत्ति में पड़ जाते हैं।'

किसी संस्था की कहानी या गाथा लिखते हुए इतिहास के इतने पुराने काल में लौटना, शायद विचित्र जान पड़े, परंतु विचारणीय यह है कि बच्चे को जन्म देने की इस प्रक्रिया में पिछली 25 शताब्दियों में कोई फर्क नहीं आया है। यह जैविक प्रक्रिया बदस्तूर जारी है और इसका पूरा दायित्व अब भी महिला पर ही है। बहरहाल हम जिस संस्था की बात करने जा रहे हैं उसका नाम है- 'मातृ सेवा संघ, नागपुर'। इसकी स्थापना सन् 1921 ईस्वी, यानी बुद्ध के जन्म के 2484 वर्ष बाद हुई थी। यह संस्था करीब 102 वर्ष से न केवल सतत् कार्य कर रही है, बल्कि लगातार विस्तारित भी होती जा रही है। यह मध्यभारत में स्थापित सबसे पुराने धर्मादा ट्रस्ट में से एक है।

कई बार ऐसा हो जाता है कि संस्था और संस्थापक के बीच का अंतर खत्म हो जाता है और इसका परिणाम यह निकलता है कि संस्थापक के न रहने के बाद भी संस्था गतिशील बनी रहती है। ऐसा ही संबंध मातृसेवा संघ, नागपुर और इसकी संस्थापक

कमला (बाई) ताई होस्पेट और मातृ सेवा संघ, नागपुर के बीच का भी है। ये दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। पहले बात कमला ताई होस्पेट की। कमला ताई का जन्म 23 मई, 1896 को महाराष्ट्र के खानदेश अंचल में स्थित धुले जिले के शिरपुर गांव में मोहनी परिवार में हुआ। परिवार में 4 भाई व तीन बहन थीं। आपका बचपन का नाम यमु था। मात्र बारह वर्ष की उम्र में इनका विवाह कर्नाटक निवासी गुरुराव होस्पेट से हो गया। जल्दी विवाह का कारण था कि परिवार पर आर्थिक बोझ कम हो। परंपरानुसार विवाह (लग्न) के बाद आपका नामकरण 'कमला' कर दिया गया। पति व्यसनी थे। विवाह के मात्र तीन वर्ष पश्चात, जब वे महज 15 वर्ष की थीं, तभी उनके पति का निधन हो गया। होस्पेट परिवार चाहता था कि वे विधवा का एकाकी जीवन जिएं। सास उनके बाल काट देना चाहती थीं। यह समाचार मोहिनी परिवार तक पहुंचा। पिता के चाचा पुलिस की सहायता से उन्हें वापस ले आए। वे इस बात के लिए तैयार नहीं थे कि कमला विधवा का जीवन जिए। आगे की गाथा और भी रोमांचक है।

नागपुर में हमारी भेंट कमला ताई के भतीजे श्री दिवाकर मोहनी, जो 91 वर्ष के हैं और उनकी पत्नी सुनंदा मोहनी, जो करीब 89 वर्ष की हैं, से हुई। कमला ताई श्री दिवाकर मोहनी की बुआ थीं। उन्होंने इस संस्था को और कमला ताई दोनों को नजदीक से विस्तारित होते देखा-समझा है। श्री दिवाकर ने बताया कि चाचा कमला ताई को अपने मित्र गोखले के यहां लेकर आए। होस्पेट परिवार से संबंध पूरी तरह से टूट गए थे। कमला ताई को स्वावलंबी बनाने के लिए भारतरत्न घाड़ो केशव कर्वे के विद्यालय में उनका दाखिला कराया गया। बहन वेणु ताई की बेटी भी वहीं पर पढ़ने आईं। इतनी छोटी उम्र में इतना दुख सह लेने के बाद कमला ताई काफी गंभीर, मितव्ययी और स्वावलंबी भी हो गई थीं। ताई का कहना था कि घर के लोगों का कष्ट कम करने के लिए वे पुनर्विवाह तो नहीं करेंगी, परंतु वे घर के सदस्यों पर आर्थिक भार भी नहीं डालना चाहती थीं। ऐसे में उन्होंने पढ़ाई छोड़ दी और पुणे से वर्धा अपने भाई के पास आ गईं। यहां घरों का काम करने के अलावा बच्चों को संभालने का कार्य करने लगीं। परिवार भी विकास करने लगा और भाई शिक्षण, समाजसेवा और स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय हो गए थे। परिवार अब नागपुर आ गया था, जो उस समय मध्य प्रांत और बरार की राजधानी थी। यहां उन्होंने परिचालिका (नर्स) का प्रशिक्षण लेने का फैसला किया। इस हेतु उन्होंने मेयो हॉस्पिटल, जिसे आज इंदिरा गांधी वैधकीय महाविद्यालय

कहा जाता है, के डफरीन अस्पताल (रुग्णालय) में नर्स का प्रशिक्षण लेना प्रारंभ कर दिया। यहीं पर उनका परिचय मातृ सेवा संघ संस्थान की सह-संस्थापिका वेणु ताई नेने से हुआ। वे भी कम उम्र में विधवा हो गई थीं। यहां पर दोनों ने प्रशिक्षण पूरा किया।

इसके पश्चात एक घटना ने उन्हें विचलित कर दिया। अस्पताल में अंग्रेजों को व रसूखदार लोगों को ही प्राथमिकता दी जाती थी। एक दिन गरीब महिला की प्रसूति के दौरान अस्पताल के अधीक्षक ने उन्हें काफी भला-बुरा कहा और आगे से सतर्क रहने का आदेश दिया। उस दिन हुआ कुछ यूं था कि एंग्लो इंडियन मेट्रन को इस बात पर नाराजगी थी कि प्रसूति के लिए आई एक हिंदू महिला को अत्यधिक पीड़ा थी और उसे बेड की जरूरत थी। कमला ताई ने उसकी व्यवस्था कर दी। मेट्रन ने नाराजगी से पूछा कि ऐसा किसने किया है। कमला ताई उस समय तो चुप रह गईं, लेकिन मरीजों के साथ हो रहे भेदभाव से उनके मन को चोट पहुंची और उसी क्षण उन्होंने स्वयं के प्रसूति गृह का निर्माण का निश्चय कर लिया- जिसकी परिणति मातृ सेवा संघ की स्थापना के रूप में हुई। कमला ताई को यह नागवार गुजरा था और उन्होंने तत्क्षण अस्पताल को छोड़ा और तय किया कि वे जो सूतिका गृह (प्रसूति गृह) खोलेंगी उसमें किसी भी प्रकार का कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा। उनके कार्य को मूर्तरूप देने के लिए समाजसेविका गंगाबाई गोखले ने नागपुर के सीताबर्डी की मोदी लाइन में स्थित अपने आवास को तीन साल के लिए प्रसूति गृह चलाने के लिए दिया। इस प्रकार 8 मई, 1921 को अक्षयतृतिया के दिन इसे प्रारंभ किया गया। प्रसूति गृह के उद्घाटन के समय इसमें मात्र 5 खाट (चारपाइयां) और कमला ताई व वेणु ताई का आत्मविश्वास था। पहले वर्ष करीब 37 प्रसूतियां हुईं। इनमें से 3 धर्मार्थ और 34 से नाममात्र का 5 रुपए शुल्क लिया गया। इसी वर्ष श्री बाबूलाल पातुरकर के निर्देशन में 'वीर विडेबन' नाटक का मंचन प्रसूतिगृह के लिए हुआ। इसके माध्यम से 1203 रुपए प्राप्त हुए। इसमें से 1000 रुपए लेकर संस्था की स्थापना की गई। इस वर्ष की कुल आय 1237 रुपए चार आने और खर्च 1560 रुपए था। अगले वर्ष, यानी सन् 1922 में 69 डिलीवरी हुईं और यह सिलसिला बढ़ता गया। एक समय यह भी आया कि नागपुर में होने वालह प्रत्येक तीन डिलीवरी में से एक कमला ताई के हाथ की होती थी। इस तरह से नागपुर में सांस्थानिक प्रसूतियों को बढ़ावा मिला। गौरतलब है, उस काल में जो महिलाएं अस्पताल नहीं आना चाहतीं थी, तो कमला ताई, वेणु बहन व अन्य लोग घरों में जाकर भी डिलीवरी - प्रसूति करवाते थे। आज मातृसेवा संघ की 4 राज्यों में 21 शाखाएं हैं।

कमला ताई बेहद क्रांतिकारी सोच रखती थीं। वे बाल विधवा थीं, इसलिए उसका दर्द भी समझती थीं। उनका यह प्रयास रहा कि कार्य करने के लिए विधवाओं को ही नियुक्त करने की परंपरा डाल सकें और वे उसमें कामयाब भी रहीं। आज भी इस संस्था में इस परंपरा का निर्वाह बदस्तूर जारी है। उन्होंने जब संस्था की स्थापना की तब नागपुर में मातृ मृत्यु दर बहुत ज्यादा थी। उनके प्रयास से जागरूकता आई और इसमें असाधारण सुधार भी आया। उनका मानना था कि इस तरह का कार्य समाज द्वारा दिए गए धन से ही किया जा सकता है। संस्थान पूरी तरह से धर्मादा (चैरिटी) पर आश्रित था और अभी भी वही स्थिति बनी हुई है। समर्पण अभी भी यहां परिलक्षित होता है। उनका चंदा इकट्ठा करने का तरीका भी नायाब था। वे एक थैली लेकर घूमती थीं और 4-4 आने इकट्ठा करती थीं। इसके अलावा उनकी एक विचित्र-सी प्रतिज्ञा भी थी। वे सबेरे तय कर लेती थीं कि आज उन्हें न्यूनतम कितना धन इकट्ठा करना है। यदि उतना धन इकट्ठा नहीं हो पाता था, तो वे उस दिन खाना नहीं खाती थीं। यह बात पता चलने पर न्यायमूर्ति चन्द्रशेखर धर्माधिकारी ने उनसे कहा था कि आपके संकल्प में जो भी कमी रह जाया करे, वह आप मुझसे ले लिया कीजिए। वे कभी चंदे की रसीद बुक के बिना घर से निकलती नहीं थीं। सिर्फ सफेद साड़ी पहनती थीं और उनके पास रेल्वे का पास था, जिससे वे लगातार यात्राएं करती थीं। जहां भी जाती थीं, मातृ सेवा संघ के लिए कुछ न कुछ लेकर ही आती थीं। घर से लड्डू बनाकर ले जाती थीं और स्टेशन पर बांट देती थीं। नागपुर में उनका बहुत सम्मान था।

यहां उनकी कार्यपद्धति की एक अन्य विशिष्टता पर ध्यान देना अनिवार्य है। चूंकि उस काल में नर्सिंग होम या मेटरनिटी होम का अस्तित्व नहीं था, तो इस बात का भी अंदेशा रहता था कि प्रसूतिगृह पर अत्यधिक जोर न पड़े। यहां विशेषज्ञ चिकित्सक भी थीं। अत: यह तय किया गया कि जिनकी डिलीवरी में जटिलता हो रही हो, उन्हें

ही मातृ सेवा संघ में भर्ती किया जाए और बाकी की प्रसूति उनके घरों में ही करवाई जाए। इस वजह से नागपुर में मातृ व शिशु मृत्यु दर में असाधारण कमी आई। प्रत्येक डिलीवरी के बाद वे स्नान करती थीं। कई बार तो दिन में तीन-तीन बार उन्हें नहाना पड़ता था। देर रात भी वे ठंडे पानी से ही नहाती थीं। घर में जचकी कराने वाले उन्हें सीधे बुला लेते थे। उनके पास पैसे हों या न हों संघ उनकी सहायता करता था। लोगों में इसका अच्छा असर पड़ा। प्रसूति गृह में मुस्लिम नर्स भी थीं। वे हिन्दू नव माताओं की न केवल प्रसूति कराती थीं, बल्कि उन्हें पौष्टिक भोजन, हलवा आदि भी स्वयं बनाकर खिलाती थीं। श्री दिवाकर बताते हैं, सब कुछ इतने स्नेह व धैर्य से होता था कि माताएं रोने लगती थीं। हिन्दू-मुस्लिम मरीजों के चूल्हे अलग-अलग नहीं थे। सबकुछ साझा था। न जाति भेद न धार्मिक भेद।

कमला ताई का स्वतंत्रता संग्राम में भी अप्रत्यक्ष योगदान रहा। तमाम स्वतंत्रता सेनानी उनके यहां फरारी काटते थे। जैसे-जैसे प्रसूति गृह विस्तार होता गया वैसे-वैसे कमला ताई का चरित्र भी चमकता चला गया। उनका मानना था कि समाजसेवा और देशसेवा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वे सेनानियों को अपनी एंबुलेंस में छुपाकर बाहर भेजती थीं। गांधीवादी आंदोलन की उन्होंने बहुत मदद की। हैदराबाद मुक्ति संघर्ष में भी उन्होंने भूमिका निभाई। गौर करिएगा, यहां की सभी कार्यकर्ता कमोवेश पारंपरिक मराठी नौवारी (लांग की साड़ी) साड़ी पहनने वाली रहीं हैं। साथ ही अधिकांश कार्यकर्ता या तो विधवा हैं या अस्पृष्य। अनाथ बच्चे और कुंवारी माताओं की यह स्थायी आश्रय स्थली रही है। उनका घर सबका घर था। एक किस्सा है कि एक बार एक व्यक्ति अपनी लड़की को लेकर आया और बोला यह शादी से पहले ही गर्भवती हो गई है। मेरे मुंह पर कालिख पोत दी है। मेरी प्रतिष्ठा धूल में मिला दी। कमला ताई ने बहुत दृढ़ता के साथ उससे कहा कि 'आप अपनी प्रतिष्ठा संभालिये, मैं आपकी लड़की को संभाल लूंगी।' वे कभी भी अपने कार्य से पूरी तरह संतुष्ट नहीं रहीं। उनका मानना था कि सुधार की गुंजाइश हमेशा बनी रहती है। वे मानती थीं कि थोड़ा भी पैसा हाथ में हो, तो मोह हो जाता है। उन्होंने संस्था से कभी मानदेय नहीं लिया। कमला ताई (बाई) होस्पेट ने एक बेहद रोमांचक जीवनयात्रा जी है। उन्हें समझे बगैर

मातृ सेवा संघ की अब वर्तमान स्थिति और विस्तार व व्यापकता को भी नहीं समझा जा सकता है।

मातृ सेवा संघ एक अनूठी संस्था है। अपने 100 साल से भी ज्यादा के कार्यकाल में इस संस्था के अध्यक्ष, सचिव व समस्त कार्यकारिणी में सिर्फ महिलाएं ही रही हैं। पहली कार्यकारिणी, जिसमें लक्ष्मीबाई केलकर, लक्ष्मीबाई गाडगिल, गंगाबाई गोखले, कमला ताई होस्पेट, डॉ. कमलाकर, वेणुताई नेने, सीताबाई गाडगिल और पार्वतीबाई कल्पगोवकर थीं, से लेकर आज तक सारे पदों पर सिर्फ महिलाएं ही पदस्थ रही हैं। वर्तमान में डॉ. अरुणा बान्मूलकर इसकी अध्यक्ष हैं। श्रीमती सीताबाई गाडगिल सर्वाधिक लंबी अवधि तक अर्थात सन् 1921 से 1951 तक करीब 31 वर्ष इसकी अध्यक्ष रहीं। ज्यादातर संस्थान स्वयं को विस्तारित करने से घबराते हैं, परंतु मातृ सेवा संघ का पांच चारपाइयों से शुरू हुआ संगठन आज जिस मुकाम पर पहुंचा है, वह आश्चर्यचकित करने वाला है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि संस्थान पारिवारिक प्रबंधन में बंधकर नहीं रहा। कमला ताई के परिवार के कोई भी सदस्य, इस संस्था के निर्णायक पद पर नहीं हैं, जबकि अधिकांश अभी भी नागपुर में रहते हैं। अपवादस्वरूप पत्रिका का संपादन परिवार की सदस्य शीला राव करती हैं।

अब हम इस संस्था की व्यापकता अर्थात इसके अनुषंगों पर संक्षेप में विचार करते हैं। गौरतलब है, मातृ सेवा संघ मूल संस्था है, जो अभी वर्तमान में सीताबर्डी सूतिका गृह, धर्मदा रुग्णालय (सीताबर्डी प्रशिक्षण), धर्मादा अस्पताल संचालित करती है। अपने प्रसूतिगृह को उन्होंने अंततः समाजसेवा के अन्य आयामों तक विस्तारित किया। इस संस्था के पीछे मूल विचार था, एक ऐसे समाज की ओर बढ़ना, जिसमें समाज के पिछड़े वर्ग- महिलाएं, बच्चे, बूढ़े और दिव्यांग शामिल हैं, स्वस्थ, आनंदित, सशक्त बनें और सामाजिक तौर पर जुड़े रहें। साथ ही समाज का पिछड़ा वर्ग गरिमामय और स्वास्थ्कर जीवन व्यतीत कर सके। गौरतलब है, मातृ सेवा संघ की

शाखाएं महाल (सन् 1927), अमरावती (सन् 1934), वर्धा (सन् 1937), आर्वी (सन् 1938), भंडारा (सन् 1938), जबलपुर (म.प्र.-1941), हिंगणघाट (सन् 1944) बिलासपुर (छग-1945), ब्रह्मपुरी (सन् 1945), वरोरा (सन् 1945), चांदूर रेल्वे (सन् 1951), अकोला (सन् 1957) में स्थापित हुईं और अधिकांश अभी भी कार्यरत हैं। यदि सीताबर्डी प्रसूति गृह की बात करें, तो सन् 2021-22 में यहां कुल 741 महिलाएं भर्ती हुई थीं। जिनमें 617 प्रसूति के लिए आई थीं। इनमें से 124 की सामान्य डिलीवरी हुई और 472 की सिजेरियन। इतना अंतर व कारण पूछने पर संस्था की वर्तमान अध्यक्ष डॉ. अरुणा बान्मुलकर व सचिव डॉ. लता देशमुख का कहना था कि अधिक सिजेरियन होने के पीछे का एक बड़ा कारण यह है कि यह प्रसूति गृह अत्यंत कम शुल्क में ऑपरेशन व अन्य सुविधाएं प्रदान करता है, इस कारण तमाम जटिल मामले यहां आते हैं। यहां पर कार्य करने वाले चिकित्सकों का समर्पण वास्तव में चकित करता है। सामान्य से आधे से भी कम वेतन पर यहां के अधिकांश चिकित्सक कार्य करते हुए बेहद प्रसन्न नजर आए। कस्तूरबा गांधी सन् 1933 में यहां आई थीं (02-10-1933) और उन्होंने लिखा था- 'इस प्रसूतिका गृह को देखकर मैं बहुत खुश हुई। इसमें हरिजन स्त्रियों को भी प्रवेश मिलता है। यहां जो कपड़ा काम में लाया जाता है, वह शुद्ध खादी का ही हो, ऐसी मेरी इच्छा है। इस उपयुक्त संस्था की हर तरह से मदद करना चाहिए।' मातृ सेवा संघ के अंतर्गत नर्स व दाईयों के प्रशिक्षण हेतु सन् 1954 से एक केंद्र का संचालन हो रहा है। बाद में सन् 1960 में सहायक नर्सिंग प्रशिक्षण केंद्र भी शुरू हो गया। इसके बाद सन् 1982 में महाराष्ट्र सरकार के पुणे स्थित निदेशक, स्वास्थ्य सेवाओं की मदद से बहुउद्देशीय स्वास्थ्यकर्मी प्रशिक्षण केंद्र भी आरंभ हो गया। इसके अंतर्गत 60 महिला छात्रों को रहवासी सुविधा सहित 18 महीनों का प्रशिक्षण दिया जाता है।

इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल वर्क : स्कूल ऑफ सोशल वर्क फॉर वुमन (महिलाओं के लिए सामाजिक कार्य विद्यालय) की स्थापना सन् 1958 में डॉ. सत्यबाला तायला के नेतृत्व में हुई। यह मध्य भारत में अपनी तरह का पहला संस्थान है। इसमें सामाजिक कार्य (सोशल वर्क) के लिए सर्टिफिकेट कोर्स के अलावा बैचलर (BA) और बाद में स्नातकोत्तर (MA) भी शुरू हुआ। सात (7) छात्राओं से शुरू हुआ यह संस्थान 'नेक' से स्वीकृत है और राष्ट्रीय तुकोजीराव महाराज नागपुर विश्वविद्यालय से संबंद्ध है। इसकी विद्यार्थी अधिकांशतः अस्पताल, ग्रामीण समुदायों, बहिष्कृत बच्चों, संकटग्रस्त महिलाओं और मलिन बस्तियों में कम आय वर्गों के साथ कार्य करती हैं।

पंचवटी वृद्धाश्रम (बुजुर्गों के लिए घर) : इसे 6 नवंबर, 1961 को स्थापित किया गया था। यह 60 वर्ष या इससे अधिक आयु वर्ग के लिए घर है। श्रीमती कमला ताई का उद्देश्य था गरीब और उपेक्षित लोगों की जन्म से मृत्यु तक मदद की जाए। इस केंद्र की स्थापना की प्रेरणा उनकी मां ने उन्हें दी थी। मां का कहना था कि जिन महिलाओं ने पूरे जीवन मातृ सेवा संघ की सेवा की है और इनमें से अधिकांश विधवा व बेघर हैं, उनकी जिम्मेदारी संघ पर है। इसमें घर जैसा वातावरण व सेवा शुश्रुशा उपलब्ध है। इसका ध्येय वाक्य है- 'पंचवटी का उद्देश्य है कि वृद्धावस्था में सिर्फ अधिक वर्ष ही नहीं बल्कि अधिक जीवन जोड़ा जाए।' इसी परिसर में अन्य अनुषंग 'श्रीराम मंदिर' भी है। गौरतलब है संस्थान लगातार परिवर्तनशील है। पंचवटी में जहां 35 गरीब और बेसहारा औरतें रहतीं हैं वहीं 65 ऐसे स्त्री-पुरुष भी रहते हैं जो अपना रहने खाने का खर्च स्वयं वहन कर सकते हैं। इनके लिए एकल कमरा, दो व्यक्तियों के लिए कमरा, डारमेट्री के अलावा कुछ ऐसी इकाइयां हैं जिन्हें वृद्धाएं खरीद लेती हैं और उसमें रहती हैं। उनकी मृत्यु के बाद ये पुनः आश्रम को हस्तांतरित हो जाती हैं। यहां भोजन आदि के अलावा प्रति सप्ताह स्वास्थ्य की जांच होती है। यह एक अनूठी पहल है और अब बच्चे भी इसमें रहते हैं।

कुसुम विहार : यह बुजुर्ग व्यक्तियों के कम दिन तक ठहरने की एक अनूठी अस्थायी सुविधा है। सामान्यतया भारतवर्ष में लोग अपने पालकों/वरिष्ठ सदस्यों को परिवार के साथ ही रखना पसंद करते हैं, परंतु कई बार ऐसी परिस्थिति बन जाती हैं कि उन्हें छोड़कर जाना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में मातृ सेवा संघ का कुसुम विहार उनका मददगार होता है। इस केंद्र की स्थापना डॉ. कुसुम वानकर जो कि सन् 1946 में मुंबई के ग्रांट मेडिकल कॉलेज से एम.बी.बी.एस. थीं, ने कमला ताई के कार्यों से प्रभावित होकर की थी। वे संघ की पदाधिकारी भी रही थीं। उन्होंने मातृ सेवा संघ में अनेक सुविधाएं स्थापित की थीं और संस्थान की नंदनवन शाला आदि के लिए एक करोड़ रूपए से ज्यादा दान दिया था। यहां अधिकतम तीन महीने तक रहा जा सकता है। इसमें कुल 10 कमरे हैं।

नंदनवन: 'दुर्बल मनास्क मुलांची एवं नंदनवन संरक्षित कर्मशाला': मानसिक रूप से चुनौतीपूर्ण बच्चों के लिए इस विद्यालय की स्थापना सन् 1960 में डॉ. कुसुम वानकर के द्वारा की गई थी। इसके साथ एक कार्यशाला (Workshop) भी जुड़ी हुई है। यह नागपुर में अपनी तरह का पहला विद्यालय था। अभी यहां पर करीब 200 मानसिक दिव्यांग बच्चे अध्ययनरत हैं। शुरूआत में केवल इनका ध्यान ही रखा जाता था, परंतु अब शिक्षा के साथ इन्हें व्यावसायिक प्रशिक्षण भी दिया जाता है। यहां 3 से 8 वर्ष तक के बच्चों को प्रवेश दिया जाता है। यहां प्री-प्राइमरी (3 से 6 वर्ष), प्राथमिक (6-10 वर्ष), उच्चतर माध्यमिक (10 से 14 वर्ष) का प्राविधान है। अंत में 14 से 18 वर्ष तक के युवा भी इसमें शामिल रहते हैं। संगीत, गायन, वादन, कंप्यूटर, चित्रकला, खेल, नृत्य आदि में प्रशिक्षित किया जाता है।

स्नेहांगन शारीरिक अक्षम बच्चों का रहवासी विद्यालय : 5 अप्रैल, 1981 को स्थापना होने के साथ ही इस विद्यालय से कार्य करना शुरू किया था। इसमें दिव्यांग बच्चों को शारीरिक, शैक्षिक व व्यावसायिक प्रशिक्षण 18 वर्ष की उम्र तक दिया जाता है। अभी इसे महाराष्ट्र सरकार के सामाजिक कल्याण विभाग की मान्यता व सहायता दोनों प्राप्त हैं। इस संस्थान में सन् 1981 से 2022 तक 500 से ज्यादा लड़कियां

और 550 से ज्यादा लड़के प्रशिक्षित होकर रोजगार से जुड़े हैं। इसमें सिलाई, कंप्यूटर आदि का प्रशिक्षण भी दिया जाता है। साथ ही उन्हें रोजगार प्राप्त करने में भी मदद की जाती है।

अनाथालय : यह संस्थान का अत्यंत महत्वपूर्ण अनुषंग है। इसकी स्थापना सन् 1982 में हुई। इसके अंतर्गत परित्यक्त बच्चे, जो शासकीय मेडिकल कालेज से भेजे जाते हैं, का लालन-पालन किया जाता है। इस अनुषंग का मूल उद्देश्य है कि कोई भी बच्चा अनाथ नहीं रहना चाहिए। इनके लिए उपयुक्त घर की तलाश की जाती है। साथ ही कुंवारी माताओं या विधवा महिलाओं के बच्चों को भी अपनाया जाता है। इन माताओं को शारीरिक व मानसिक सुरक्षा भी प्रदान की जाती है। यहां केवल भारतीयों को ही बच्चे गोद दिए जाते हैं।

कामकाजी महिला होस्टल : यह सन् 1954 से संचालित है। इसमें 50 से ज्यादा महिलाएं रह सकती हैं। इसके अलावा सन् 1977 में डॉ. सत्यबाला तायल के माध्यम से एक अन्य होस्टल भी विकसित किया गया था।

संमित्र केंटीन : यह भी एक विशिष्ट सुविधा है। इसका मुख्य उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों से उपचार के लिए शासकीय मेडिकल कॉलेज, नागपुर आने वाले मरीजों एवं उनके साथ आने वाले परिजनों को साफ-सुथरा, पौष्टिक भोजन उपलब्ध कराना है। यह केंटीन पिछले 45 वर्षों से सतत् कार्यरत है।

पारिवारिक काउंसिलिंग केंद्र : इसकी स्थापना सन् 1987 में हुई थी। इस केंद्र का मुख्य उद्देश्य, जिन महिलाओं व बच्चों को घरेलू हिंसा या सामाजिक प्रताड़ना सहनी पड़ी हो, उनकी मदद की करना है।

मातृ सेवा मासिक : संस्था की अपनी मासिक पत्रिका भी है। इसका पिछले 57 वर्षों में नियमित प्रकाशन हो रहा है।

adidas

निष्कर्ष

एक ऐसा संस्थान, जो चार आने के दान से लेकर एक करोड़ रुपए के दानदाताओं के माध्यम से संचालित होता हो, की सामाजिक प्रतिष्ठा और पैठ का सहज अंदाजा लगाया जा सकता है। यह मूल रूप से महिलाओं द्वारा ही संचालित होता है। मध्यप्रदेश के पहले मुख्यमंत्री पं. रविशंकर शुक्ल ने भी नागपुर में अपनी 3.5 एकड़ जमीन इस संस्थान को दान में दी थी। इस संस्था में आनेवाले मेहमानों की सूची भी आश्चर्यजनक है। इनमें कुछ नाम हैं- कस्तूरबा, भारत के तीन राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद, डॉ. जाकिर हुसैन व प्रतिभा पाटील, दो प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू व श्रीमती इंदिरा गांधी, विनोबा भावे, पूर्व उपराष्ट्रपति बी.डी. जत्ती, श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित अनेक देशों के राजदूत, दुनियाभर के वरिष्ठ पत्रकार, संयुक्त राष्ट्र संघ के अनेक प्रतिनिधि, बाबा आम्टे, डॉ. सुशील नैयर आदि।

यहीं पर पहली बार एक ऐसा अस्पताल देखने को मिला, जहां कमरे से लगा एक छोटा रसोईघर भी है। बिना किसी आर्थिक चाहत के चलने वाला संस्थान, कुछ ही मामलों में (जहां अनिवार्य हो वहीं) सरकारी मदद लेता है, अन्यथा नहीं। 5 चारपाई से शुरू अस्पताल अब कैंसर उपचार व कोरोना टीकाकरण तक का कार्य लगातार कर रहा है। पिछले 5 वर्षों में यहां हजारों डिलीवरी हुई हैं। इसके बावजूद कहीं कोई गंदगी नहीं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को छूने वाली गतिविधियों से यह संस्थान जुड़ा है। वर्तमान में थोड़ी परेशानी में है, क्योंकि लोगों की धर्मादा कार्यों में रुचि लगातार कम हो रही है, परंतु संघ विस्तारित हो रहा है। इस वर्ष यहां दांतों का दवाखाना भी खुला। कमलाबाई होस्पेट और वेणुताई के कार्य को जिस स्तर पर सामाजिक स्वीकार्यता व सहयोग मिला, वह वास्तव में बहुत आश्वस्त करता है। एक ऐसी महिला, जिसने विद्यालयीन शिक्षा तक ठीक से प्राप्त न की हो, उसके द्वारा स्थापित संस्थान की अभूतपूर्व विविधता बेहद अनुकरणीय है। समाज के कमजोर वर्ग के प्रति दर्द को अनुभव कर, उसे दूर करने का उनका प्रयास बेहद ऊर्जा देता है। आज हम महिला सशक्तीकरण को लेकर मुखरित हैं, लेकिन 100 वर्ष पहले प्रथम महिला केंद्रित संस्थान का निर्माण और पूरी शताब्दी बीत जाने के बाद भी उसी गरिमा के साथ सिर्फ महिलाओं द्वारा उसका निरंतर संचालित होना, असंभव-सा लगता है, परंतु उन्होंने इसे संभव बना दिया। सौ वर्षों में गवर्निंग बॉडी में सिर्फ महिलाएं ! वाह ! इस संस्थान पर तो पूरी पुस्तक ही लिखी जानी चाहिए। यहां आना बेहद रोमांचक व भावुक कर देने वाला था। उम्मीद है, भविष्य में भी संपर्क बना रहेगा। मजाज ने सन् 1937 में जब अपनी नज्म नौजवान खातुन के अंत में लिखा था-

तिरे माथे पे ये आंचल बहुत ही खूब है लेकिन
तू इस आंचल से इक परचम बना लेती तो अच्छा था।

तब शायद उन्होंने कमलाताई और वेणुताई के बारे में नहीं सुना होगा। क्योंकि तब तक इन दोनों ने तो अपने आँचल को परचम (झंडे) में बदल दिया था और वह परचम आज 100 साल बाद भी उसी बुलंदी और शान से लहरा रहा है।

सेवाग्राम आश्रम प्रतिष्ठान
संचालित
आहार केंद्र
स्वच्छता राखा !
स्वच्छता राखा !

सेवाग्राम प्रतिष्ठान

सेवाग्रामः नए भारत की नींव

महात्मा गांधी ने सेवाग्राम आश्रम को अपनी प्रयोगशाला बनाया और यहीं अपने सर्वश्रेष्ठ आविष्कार 'नई तालीम' को भी मूर्तरूप दिया। यदि व्यापक नजरिए से देखें तो सेवाग्राम भारतीय सामजिक संस्थाओं के पहिये की धुरी है। पहिये में कितनी ही ताड़ियां हों, वह कितना ही मजबूत हो, लेकिन यदि केंद्र की धुरी मजबूत नहीं है, तो उसका चल पाना संभव नहीं है। सेवाग्राम में बसने के बाद उन्होंने एक अर्थव्यवस्था या देश की प्रत्येक जरूरत की पूर्ति के लिए आवश्यक सभी आयामों से संबंधित संस्थाओं, जैसे- कृषि, ग्रामोद्योग, स्वास्थ्य, शिक्षा, उद्योग आदि पर केंद्रित संस्थाओं का गठन किया। यदि भारतीय संदर्भों में नागरिक संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका को समझना है, तो 'सेवाग्राम आश्रम' का अध्ययन अनिवार्य है।

आप यह विश्वास रखें कि मैं जिस तरह से रहना चाहता हूं, ठीक उसी तरह से आज रह रहा हूं। जीवन के प्रारंभ में ही अगर मुझे अधिक स्पष्ट दर्शन होता, तो मैं शायद जो करता वह अब जीवन के संध्याकाल में कर रहा हूं। यह मेरे जीवन की अंतिम अवस्था है। मैं तो नींव से निर्माण करके ऊपर तक जाने के प्रयास में लगा हूं। मैं क्या हूं, यह यदि आप मुझे जानना चाहते हैं, तो मेरा यहां (सेवाग्राम) का जीवन आप देखिए तथा यहां के वातावरण का अध्ययन कीजिए।

- महात्मा गांधी - सेवाग्राम, 1937

सेवाग्राम को देखना-समझना महात्मा गांधी को समझना भी है। वे यहां स्थापित हैं। सेवाग्राम इस वेदवाक्य- 'इस गांव में परिपुष्ट एवं स्वस्थ विश्व का दर्शन हो' को चरितार्थ करता है। यहीं से गांधी ने हिटलर को विश्वयुद्ध रोकने और उसे उसकी नियति समझाने के लिए दो पत्र लिखे थे। सेवाग्राम पर लिखना थोड़ा कठिन है, क्योंकि यह महज एक स्थान या संस्थान न होकर, एक परिपूर्ण विचार है। बापू की परिपूर्णता का विचार। इस अध्ययन के दौरान ही रूस-युक्रेन युद्ध शुरू हुआ था। यहां सभी का यह मानना था कि इस परिस्थिति में बापू चुप नहीं बैठते।

गांधी कहते हैं कि 'मैंने अपने लिए जो जीवनधर्म चुना है, वह परोपकारी योद्धा का जीवन-धर्म नहीं है, जो लोगों को कठिन परिस्थितियों से छुटकारा दिलाने के लिए सर्वत्र घूमता रहता है। मैं लोगों के सामने ऐसे उदाहरण पेश करने का विनम्र प्रयास करता हूं, जिनसे कि वे अपनी परेशानियों को स्वयं हल करना जान सकें।' जाहिर है नागरिक संस्थाओं का भी यही ध्येय होना चाहिए। गौरतलब है कि बापू का सार्वजनिक जीवन आश्रम केंद्रित रहा है। दक्षिण अफ्रीका में फीनिक्स और टॉलस्टाय फार्म और भारत में पहले साबरमती (सत्याग्रह) आश्रम और अंत में सेवाग्राम। सेवाग्राम तक

पहुंचते-पहुंचते महात्मा गांधी ने 'सेवा के लिए जरूरी कौशल्य' को हासिल करने के लिए एकादश (ग्यारह व्रत) तय किए थे, वे हैं- सत्य, अहिंसा, ब्रहमचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, शरीरश्रम, स्वदेशी, अभय, अस्पृश्यता निवारण, सहिष्णुता या सर्वधर्म समभाव। यूं तो उन्होंने साबरमती आश्रम में ही उन पर जोर देना शुरू कर दिया था, लेकिन सेवाग्राम तो इन व्रतों का आधार बन गया या ये व्रत इस आश्रम के आधार बन गए।

बापू सन् 1933 में साबरमती आश्रम का त्यागकर हरिजन यात्रा पर निकल गए थे। इसी दौरान उन्होंने तय कर लिया कि अपना बाकी का जीवन उन्हें ग्रामोद्योग व ग्राम सेवा को समर्पित करना है। उन्हें ग्रामोद्योग संघ की स्थापना करना थी। इसके मुख्य कार्यालय के लिए जमनालाल बजाज ने वर्धा का प्रस्ताव दिया। गांधीजी सहमत हुए। जमनालालजी ने इस हेतु अपना मकान और बगीचा दिया। गांधीजी ने यहां अप्रत्यक्ष रूप से सेवाग्राम को मूर्तरूप देने की शुरूआत कर दी थी। इस स्थान को मगनवाड़ी नाम दिया गया। चूंकि वे किसी नगर या कस्बे में नहीं बसना चाहते थे, ऐसे में उन्होंने वर्धा से 4 मील दूर, जहां मीरा बहन ग्रामीण विकास हेतु रह रही थीं, वहां जाने का फैसला किया। जमनालालजी ने बहुत कोशिश की कि बापू वर्धा में बस जाएं, पर वे नहीं माने और कहा- 'मैं अपना कर्तव्य जानता हूं। मुझे गांवों की सेवा करना है, आज तक यों ही खेलते रहे। गांवों की कोई सेवा नहीं की। सच्ची ग्राम सेवा करना हो, तो ग्रामीण बनकर करना है।' परंतु जमनालालजी मान नहीं रहे थे, वे इस वजह से स्वयं पर पड़ने वाले बोझ की बात करने लगे। बापू ने तुनककर व कुछ मजाक में कहा- 'वह तो जिस दिन मुझे वर्धा बुलाया था, सोच लिया होगा, न?' अंततः जमनालालजी ने हार मान ली।

गांधी जब 30 अप्रैल, 1936 को सेगांव देखने पहुंचे थे, तो उनकी वहां आश्रम बनाने की कोई मंशा नहीं थी। वे वहां अकेले ही रहना चाहते थे, परंतु वे कस्तूरबा को नहीं रोक पाए। मीरा बहन तो वहां थी हीं। धीरे-धीरे अन्य लोग भी पहुंचे और सेगांव (सेवाग्राम) एक पूरे आश्रम में परिवर्तित हो गया। व्याख्याकार समझाते हैं कि फीनिक्स व टॉलस्टाय आश्रम बापू की वैचारिक स्थिति की शैशवावस्था और बाल्यावस्था के

प्रतीक थे। साबरमती में वे युवावस्था में रहे और सेवाग्राम उनकी वैचारिक प्रौढ़ावस्था व परिपक्वता का प्रतीक है। सेवाग्राम आश्रम बापू के सभी आश्रमों का 'निचोड़' ही तो है। बापू जिस दिन, यानी 30 अप्रैल, 1936 को यहां पहुंचे थे, उसी दिन उन्होंने एस्थर मेनन को लिखा था- 'मैं तुम्हें सेगांव नामक गांव से लिख रहा हूं, जहां मैं बस जाना चाहता हूं। मीरा बहन पहले से इस गांव में हैं। अगर मैं यहां बस गया तो वह किसी दूसरे गांव में जाएंगीं। यदि संभव हुआ तो मैं अपने साथ किसी भी पुराने सहकार्यकर्ता को नहीं रखना चाहता।' वे एकदम नई स्लेट पर लिखना चाह रहे थे। 2 मई, 1936 को उन्होंने पुनः कहा- 'मैं आशा करता हूं कि मैं यहां आकर बस जाऊंगा, पर अंत में तो सब ईश्वर की श्रद्धा पर ही निर्भर करता है। मैं कब जानता था कि वे मुझे हिंदुस्तान से दक्षिण अफ्रीका भेज देंगे और दक्षिण अफ्रीका से साबरमती आना होगा, और साबरमती से मगनवाड़ी और अब मगनवाड़ी से उठकर आपके गांव आना पड़ेगा। 'गांव के लोगों ने उनका स्वागत तो किया लेकिन वे उनके अस्पृश्यता संबंधी विचारों से वे सहमत नहीं थे। बापू बोले 'धीरे-धीरे आपको सब बात समझ में आ जाएगी।' गौरतलब है उन्हें साबरमती (कोचरब) आश्रम की शुरूआत में भी यही सुनना व झेलना पड़ा था। इससे पता चलता है कि सामाजिक परिवर्तन की रफ्तार धीमी ही रहती है। इस बात पर भी ध्यान देना जरूरी है कि बापू के यहां बसने के काफी पहले से इसकी पृष्ठभूमि तैयार हो रही थी। विनोबा का यहां आना और ग्राम सेवा मंडल एवं महिला आश्रम की स्थापना इसके संकेत देते हैं।

सेवाग्राम प्रतिष्ठान के अतीत व वर्तमान को लेकर हमने यहां के अध्यक्ष श्री टी. आर. एन. प्रभु, सचिव चतुरा रास्कर व सेवाग्राम के एक अनुषंग जमनालाल बजाज स्मृति पुस्तकालय और शोध केंद्र के निदेशक श्री सिबी के जोसेफ से बात की। श्री प्रभु का कहना है कि यहां आते ही बापू के मन में जो पहला विचार आया, वह गांव की आमदनी बढ़ाने का था और दूसरा गांव को बेहतर बनाने का। मीरा बहन यहां पहले ही टोकरी बनाने का काम शुरू कर चुकी थीं। गांधीजी ने यहां सबसे पहले गांव की साफ-सफाई का काम संभाला। इसी के साथ गुड़ बनाने व तेल निकालने का कार्य शुरू किया। याद रखना होगा कि उन्होंने सन् 1934 में कांग्रेस को औपचारिक तौर पर छोड़ते हुए कहा

था कि उन्हें अब गांव में काम करना है। उनका कहना था कि इसलिए मैं अब कांग्रेस को अधिक समय नहीं दे सकता। वे गांवों के कल्याण से आजादी की लड़ाई को नया आयाम देना चाहते थे। यहां आकर उन्होंने नई तालीम पर कार्य शुरू किया। उनका मानना था कि शिक्षा के बिना समाज में परिवर्तन संभव नहीं है। उनका कहना था कि वर्तमान प्रचलित शिक्षा प्रणाली भारत को नई राह नहीं दे सकती। आजाद भारत को नई शिक्षा, नई तालीम की आवश्यकता है। उन्होंने सेवाग्राम व वर्धा में अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ, अखिल भारतीय चरखा संघ, अखिल भारत कृषि गोसेवा केंद्र, भारतीय ग्रामोद्योग संघ, गो-सेवा चर्मालय, कस्तूरबा आरोग्य मंडल, महारोगी समिति, हिंदुस्तानी प्रचार सभा, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, महिला आश्रम, बजाज वाड़ी, मातृ सेवा संघ, मद्य निषेध व व्यसन मुक्ति अभियान जैसे तमाम संस्थान स्थापित किए ।

उस दौरान कहा जाता था कि भारत (अंग्रेजों) की राजधानी दिल्ली है और आजाद भारत की राजधानी 'सेवाग्राम' है। तत्कालीन अंग्रेज वायसराय के आग्रह पर ही यहां टेलीफोन की हॉटलाइन की व्यवस्था की गई थी। बापू के पास इतनी सारी चिट्ठियां और तार आते थे तथा वे स्वयं भी बहुत चिट्ठियां लिखते थे कि यहां पर एक डाकघर खोलना पड़ा। डाक कर्मचारी बहुत परेशान थे, क्योंकि यहां से करीब 140 किलोमीटर दूर एक और गांव का नाम सेगांव था। अक्सर आश्रम की चिट्ठियां वहां भी पहुंच जाती थीं। इसी संदर्भ में एक डाक कर्मचारी ने सेगांव का नाम 'सेवाग्राम' रखने का सुझाव दिया, जिसे मान लिया गया। बापू के स्वयं को कांग्रेस से अलग कर लेने के बावजूद सेवाग्राम कांग्रेस मुख्यालय जैसा ही रहा। पुस्तक 'सेवाग्राम की गांधी गंगा' को पढ़ने से पता चलता है कि यहां करीब 250 ऐसे सक्रिय कार्यकर्ता रहे हैं, जिन्होंने भारतीय इतिहास में अप्रतिम योगदान दिया है। इनमें से कुछ हैं- विनोबा, राजकुमारी अमृत कौर, बादशाह खान, महादेव देसाई, प्यारेलाल, डा. सुशीला नैयर, जमनालाल बजाज, श्रीकृष्णदास जाजू, काका कालेलकर, दादा धर्माधिकारी आदि। संपूर्ण गांधी वांग्मय के 30 खंडो में उनके सेवाग्राम काल के लेखन आदि का विवरण मिलता है। हम यह कह सकते हैं कि सेवाग्राम गांधीजी की प्रयोगशाला थी। वहां की नोटबुक में वे लिखते हैं- 'आजकल मैं जो कुछ लिखता हूं, उसे आदेश नहीं मानना चाहिए। सिर्फ जो ठीक लगे और व्यक्ति को अपनी सोच के अनुसार ठीक लगे, उसी का पालन करे।'(24-1-1940)

महात्मा गांधी अपने जीवनकाल में स्वयं द्वारा स्थापित इन संस्थाओं को कमोवेश

आत्मनिर्भर व स्वनिर्णय योग्य बना चुके थे। इनमें से अधिकांश संस्थान आज 80-90 वर्षों बाद भी कार्यरत हैं। अब सेवाग्राम आश्रम के वर्तमान पर आते हैं। अध्यक्ष श्री प्रभु के अनुसार प्रतिष्ठान का एक प्रमुख कार्य, बापू के यहां निवास के दौरान तैयार की गई कुटियों का संरक्षण करना है। साथ ही साथ यह भी सुनिश्चित करना है कि इनके मूल स्वरूप में कोई परिवर्तन न आए। गांधीजी की शर्त थी कि उनकी कुटिया का निर्माण स्थानीय सामग्री से हो और उसमें 100 रूपए से ज्यादा खर्च न हो। वर्तमान में इस परिसर में स्थित करीब 25 भवनों की देखभाल करना, नामपट्ट आदि तैयार करना व गाइड की व्यवस्था करना प्रतिष्ठान की एक प्रमुख गतिविधि है।

एक अन्य गतिविधि है रसायन विहीन या जैविक खेती। यहां आश्रम से लगी करीब 60 एकड़ जमीन में गेहूं, तुअर, चना, सोयाबीन, आलू, प्याज, केला, रामफल व अन्य कई सब्जियां एवं फल होते हैं। आश्रम के रसोड़े (रसोई) आदि में सामान्यतया इन्ही का प्रयोग होता है। आश्रम एक आहार केंद्र (रेस्टॉरेंट) भी संचालित करता है। श्री प्रभु का कहना है कि कुछ लोग स्वेच्छा से भी यहां अवैतनिक कार्य करने आते हैं। यहां पर ज्यादा लोगों की नियुक्ति का भार वहन कर पाने की आर्थिक क्षमता नहीं है। आयकर के नए नियमों से भी समस्या हो रही है। अतएव पूरी व्यवस्था को नए स्वरूप में ढालना जरूरी है। यहां पूर्णकालिक कार्यकता को प्रतिमाह अधिकतम 8 हजार रु. का ही भुगतान हो पाता है। वे बताते हैं कि नए आयकर नियमों के हिसाब से हम गुप्तदान नहीं ले सकते। ऐसे में हमें परिसर से सारे दानपत्र हटाने पड़े हैं। इससे आश्रम को होने वाली आय में काफी कमी आई है। वैसे कई लोग बड़ी मात्रा में धन देते हैं, अभी दक्षिण भारत निवासी ने 10 लाख रु. का दान दिया था।

सेवाग्राम में एक सुसज्जित गोशाला है। यहां सभी गाय भारतीय नस्ल की हैं। आश्रम की जरूरत के घी, दूध, आदि की व्यवस्था, इसी गोशाला से हो जाती है। वैसे भी गांधी गाय को ग्रामीण अर्थव्यवस्था की रीढ़ मानते थे, आश्रम में खादी बुनाई, कताई, प्राकृतिक तौर पर खाद्य प्रसंस्करण, साबुन बनाने आदि का कार्य होता है। खादी को लेकर अभी बड़ा विवाद चल रहा है। गौरतलब है, खादी भी अब पेटेंट हो गई है।

आश्रम महात्मा गांधी द्वारा लिखी एवं उनके विचारों पर केंद्रित पुस्तकों का प्रकाशन व मुद्रण भी करता है। इनकी बिक्री की व्यवस्था भी परिसर में है। श्री प्रभु का कहना है कि तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद किताबों की बिक्री अच्छी मात्रा में हो जाती है। इसके अतिरिक्त सेवाग्राम आश्रम प्रतिष्ठान यहां आनेवाले मेहमानों के लिए एक यात्री निवास का संचालन करता है। बहुत से लोग, जो गांधी विचार को विस्तार से जानना चाहते हैं, यहां आकर रुकते हैं। इसके अलावा इसमें दो सभागृह भी हैं। यहां कुल मिलाकर करीब 200 लोग एक साथ रुक सकते हैं। वर्तमान में यह प्रतिष्ठान का एक महत्वपूर्ण कार्य है और यह आय का प्रमुख साधन भी है।

यहां इस सबके समानांतर तमाम तरह की वैचारिक गतिविधियां भी निरंतरता से संचालित होती रहती हैं। युवाओं के लिए प्रतिवर्ष 2 कार्यशालाएं आयोजित की जातीं हैं, इनकी अवधि 1 माह होती है। आजादी के 75वें वर्ष में एक विशिष्ट व्याख्यान श्रृंखला, 'The time demands Gandhi' का आयोजन गांधियन कलेक्टिव इंडिया व गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद के सहयोग से 2 अक्टूबर व 30 जनवरी को बच्चों के लिए प्रतियोगिताएं भी आयोजित की जाती हैं। श्री प्रभु का कहना था कि सरकार ने गांधी 150 का संज्ञान लेते हुए सेवाग्राम में जो व्यापक निर्माण कार्य किया है, यह सेवाग्राम आश्रम की मूल तासीर से अनुकूल नहीं है। इसके अंतर्गत विशाल पुस्तकालय, शोध केंद्र, संग्रहालय आदि बनेंगे। इनका स्वरूप अभी तय नहीं है। ये बेहद आधुनिक होंगे। यहां वेतन भी ज्यादा देना होगा। अतएव वैचारिक टकराव संभव है। सरकार द्वारा किया गया एकतरफा निर्माण संकट का कारण बन सकता है। इस पर विचार होना आवश्यक है।

सेवाग्राम आश्रम सर्व सेवा संघ के अंतर्गत आता है। अध्यक्ष की नियुक्ति पांच वर्ष के लिए होती है। वस्तुतः आश्रम में और अधिक लोगों की आवश्यकता है। अध्यक्ष का कहना था कि कुछ लोग गांधीजी को गहराई से समझने आते हैं और कुछ केवल भ्रमण या पिकनिक के नजरिये से। इस सबको ध्यान में रखते हुए नए परिसर में सबसे पहले पुस्तकालय व शोध केंद्र शुरू करने का निश्चय किया है। श्री सिबी के जोसेफ

इस जमनालाल बजाज पुस्तकालय व शोध केंद्र को विकसित कर रहे हैं। नए परिसर की आंतरिक सज्जा और निर्माण सरकार ने किया है, परंतु आश्रम ने शुरूआत में 20 करोड़ रूपए की मांग की है, जिससे कि इनका संचालन हो सके। आश्रम बाद में यह धन लौटा देगा। सेवाग्राम आश्रम को लेकर बापू का कहना था कि, ‘न तो कोई आलस्य से बात करेगा न जोर से। आश्रम में परिपूर्ण शांति के साथ ही साथ सत्य भी संप्रेषित होना चाहिए। हमारे आपसी रिश्ते स्नेह और संयम पर आधारित होने चाहिए और मेहमानों से सभ्यता से पेश आना चाहिए। कोई मेहमान चिथड़े पहने हो या शानदार वस्त्र, हमें दोनों को समान सम्मान देना चाहिए। आश्रम की सचिव चतुरा बहन का कहना है कि गांधी विचार की संप्रेषणीयता की पहली शर्त है सादगी। रचनात्मक कार्य इसके बाद आते हैं। वे मानती हैं आश्रम के बाहरी स्वरूप में कोई बदलाव नहीं आना चाहिए। सेवाग्राम आश्रम के माध्यम से बच्चों और युवाओं के साथ सतत संवाद होते रहना चाहिए। हमें महापुरुषों की आपस में तुलना से बचना चाहिए।

इसी क्रम में संप्रेषण की पृष्ठभूमि के दृष्टिगत हम श्री सिबी के जोसफ से मिले। वे गांधी विचार एवं शांति विज्ञान विषय में स्नातकोत्तर हैं, उनकी पीएचडी ‘गांधी विचार और विकास अध्ययन’ पर है। उन्होंने देश-विदेश में अनेक विश्वविद्यालयों में अध्यापन भी किया है। गांधी विचार पर उनकी 18 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनके प्रकाशकों में राउटेज जैसे प्रकाशक भी शामिल हैं। वे मूलतः संप्रेषण व संवाद पर कार्य करते हैं। उनका मानना है कि युद्ध के समय ही शांति और हथियारों को खत्म करने की बात असरदार सिद्ध होगी। वे मानते हैं कि गांधी के युग में इंटरनेट होता, तो गांधी ही उसका सर्वश्रेष्ठ उपयोग करते। वे सेवाग्राम की वैचारिक पहल का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनका कहना है कि जमनालाल बजाज ने महात्मा गांधी को यहां लाकर पवित्र कार्य किया था। यह शोध केंद्र इसीलिए उन्हें समर्पित होगा।

निष्कर्ष

बापू ने सेवाग्राम में 16-6-1936 को अपनी परिस्थिति का वर्णन कुछ इस प्रकार किया था- 'यह पत्र मैं अपने नए निवास से लिख रहा हूं, जो सही अर्थों में ठेठ देहात है। यानी जहां न डाकघर है, न अच्छी भोजन सामग्री का भंडार, न चिकित्सा सुविधा और वर्षाकाल में पहुंच पाना भी बहुत कठिन है। मैं और भी कितने ही विशेषण लगा सकता हूं पर फिलहाल तो इतने ही पर्याप्त होंगे। इसका मतलब यह नहीं कि मुझे कुछ असुविधा उठानी पड़ रही है।'

...परंतु जब बापू यहां बसे, तो साथ ही साथ गांव भी बसा/डाकखाना बना/ विद्यालय बना/ पुस्तकालय बना/चरखा चला/बुनाई हुई। इसके अलावा और भी न जाने क्या-क्या हुआ। जब बापू यहां आदि निवास में आए, तो उनकी उम्र 66 वर्ष थी। इसी मकान में रहते हुए उन्होंने गांव विकास किया, रचनात्मक कार्य किए। ग्राम सुधार व देश में भविष्य के विकास की नींव रखी। इसी कुटी में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर, सरदार पटेल, जवाहरलाल नेहरू, राजेंद्र प्रसाद, विनोबा, मौलाना आजाद, आचार्य कृपलानी, मदनमोहन मालवीय, सरोजनी नायडू और अंबेडकर जैसे तमाम महान लोग आए। देश ने आजादी की ओर अंतिम कुंलांच भी भरी, तो इससे बेहतर स्थान भारत में और क्या हो सकता है ?

ऋग्वेद की एक ऋचा है,
आमो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः।
शुभ, विघ्नरहित, अपराजित विचार चहुंओर से हमारे पास आएं।

- आमीन

गौलाऊ गोवंश जतन (पालना) संवर्धन, संशोधन व पैदासकर चैरिटेबल ट्रस्ट

गौलव गायः शुद्धिकरण की वैज्ञानिक प्रक्रिया

महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र में सेवाग्राम (वर्धा) से करीब 12 किलोमीटर दूर ग्राम तलेगांव रघुजी (जो कि तालुका आर्वी, जिला वर्धा, महाराष्ट्र में आता है, में गाय की एक स्थानीय प्रजाति 'गौलव', जो कि कमोवेश विलुप्ति के कगार पर पहुंच गई है, के उन्नयन और उसकी शुद्धता को पुनः स्थापित करने का एक अभिनव प्रयास 'संघर्षरत' है। यह कार्य 'गौलाऊ गोवंश जतन (पालना) संवर्धन, संशोधन व पैदासकर (नई नसल), चैरिटेबल ट्रस्ट, तलेगांव, रघुजी' के माध्यम से साकार हो रहा है।

'हमारे देहातियों का गुजर खेती पर होता है और खेती का गाय पर। मैं इस विषय में अंधा हूं। निजी अनुभव मुझे नहीं है, परंतु ऐसा एक भी गांव नहीं है, जहां खेती न हो और गाय न हो। भैंसें हैं, लेकिन वे कोंकण वगैरह को छोड़कर खेती के लिए अधिक उपयोगी नहीं हैं। तब भी हमने भैंस का बहिष्कार किया है, ऐसी बात नहीं है। इसलिए ग्राम्य पशुधन का, खासकर अपने गांव के पशुओं का हमारे कार्यकर्ताओं को पूरा ध्यान रखना होगा। इस बड़ी भारी समस्या को यदि हम हल न कर सके, तो हिंदुस्तान की बर्बादी होने वाली है और साथ-साथ हमारी भी।'

- *महात्मा गांधी*

आज से करीब सौ वर्ष पहले महात्मा गांधी गांव, किसान और गाय को परस्पर पूरक की तरह देख रहे थे। वे इन्हीं तीनों में भारत का सुखद भविष्य भी देख पा रहे थे, परंतु आजादी के बाद कमोवेश इन तीनों की ही उपेक्षा हुई और परिणाम हमारे सामने हैं। गाय को लेकर भारतभर में अपराधों की नियति बन गई है। कृषि व पशुपालन आधारित ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर बहुत विपरीत प्रभाव भी पड़ रहे हैं। आवारा पशुओं की तादाद में लगातार वृद्धि होती जा रही है और फसलें नष्ट हो रहीं हैं। ग्रामीण रात-रातभर जागकर अपने खेतों की निगरानी कर रहे हैं और आपसी विवादों में हत्याएं तक हो रही हैं। इधर ग्रामीण कृषक समाज पर नया बोझ 'तार-फेंसिग' को लेकर माथे आ गया है। संकट गहरा है। समाधान आसान है पर 'आस्था' सब पर भारी है। मजेदार बात यह है कि इस पूरे घटनाक्रम में 'गाय व गोवंश' की बेहतरी की या उनके उन्नयन की बात सिरे से गायब है।

महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र में सेवाग्राम (वर्धा) से करीब 12 किलोमीटर दूर ग्राम तलेगांव रघुजी (जो कि तालुका आर्वी, जिला वर्धा, महाराष्ट्र में आता है, में गाय की एक स्थानीय प्रजाति 'गौलव', जो कि कमोवेश विलुप्ति के कगार पर पहुंच गई है के उन्नयन और उसकी शुद्धता को पुनः स्थापित करने का एक अभिनव प्रयास 'संघर्षरत' है। यह कार्य 'गौलाऊ गोवंश जतन (पालना) संवर्धन, संशोधन व पैदासकर (नई नसल), चैरिटेबल ट्रस्ट, तलेगांव, रघुजी' के माध्यम से साकार हो रहा है। गांव पहुंचने पर हमारी मुलाकात श्री पुष्पराज कोतेश्वर, कालेकर अध्यक्ष, श्री लोकेश्वर रामराजवजी आसोल, सचिव और श्री मनोज मोरेश्वर, पेंदाम, प्रोजेक्ट फेलो से हुई।

यह कहानी गांव, स्थानीय समाज, भौगोलिक व पर्यावरणीय परिस्थिति के अंतर्संबंधों की बेहतरीन मिसाल है। शुरूआत 'विदर्भ' से। विदर्भ का नाम सामने आते ही पिछले 15-20 वर्षों में हजारों किसानों द्वारा की गई आत्महत्याएं और कपास जैसी नकदी फसल के आपसी संबंधों पर सबकुछ ठहर जाता है। 'विदर्भ' का संधि विच्छेद करें, तो बहुत ही कुछ स्पष्ट हो जाता है। 'दर्भ' का शाब्दिक अर्थ होता है, कुशा या घास। इसे एक विशिष्ट घास (कास) के संदर्भ में भी प्रयोग में लाया जाता है। इसका विस्तार है। विदर्भ मूलतः एक बड़ा चारागाह रहा है और अनादि काल से यहां पशुपालन

जीवन का आधार बना रहा है। आजादी से पहले यह क्षेत्र सी.पी. बरार कहलाता था और वर्तमान महाराष्ट्र में अमरावती और नागपुर राजस्व मंडलों के जिले इसके अंतर्गत आते हैं।

यह इलाका तमाम विरोधाभासों के साथ आगे बढ़ रहा है। चर्चा की शुरूआत में पदाधिकारियों का कहना था कि जुड़ाव का बड़ा आधार, नया वन अधिकार कानून (एफ.आर.ए.), वन विभाग को ग्रामसभा की गतिविधियों और निर्णयों को बाध्यकारी मानने के लिए बाध्य करना व ग्रामीणों को शिक्षित और संगठित करने के लिए मूलतः सब इकट्ठा हुए। इसी बीच एक क्षेत्र के टाइगर रिजर्व घोषित हो जाने से 'जंगल बंदी' भी शुरू हो गई थी। तभी हमारा ध्यान गाय की स्थानीय प्रजाति 'गौलव' के संकरित हो जाने की ओर गया। कुछ वर्षों पहले तक हमारे गांवों में करीब 100 शुद्ध 'गौलव' गायें थीं। जब ध्यान दिया तो पता चला कि अब एक भी शुद्ध गाय नहीं बची है। इसलिए तीन तालुकाओं, आर्वी, आष्टी और करंजा पर ध्यान केंद्रित किया। सामूहिक विमर्श से यह बात समझ में आई कि यह गाय दूध भले ही कम देती हो, लेकिन इसका दूध बेहद पौष्टिक होता है। चारा भी कम खाती है और बीमार भी कम होती है, परंतु लेपी

जहां शासकीय तौर पर इस गाय के संवर्धन का कार्य होता है, में एक भी गाय नहीं है, सिर्फ सांड ही हैं। खैर ! यह गाय यहां के मौसम के अनुकूल भी है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि इसे बांधकर रखा जाता है, तो यह दूध नहीं देती। जरूरी है कि यह दिन में कम से कम 25 किलोमीटर चलें। यह पथरीली जमीन पर भी आसानी से गुजर कर लेती है। इसका गुजारा सिर्फ घास से नहीं चलता, इसे तमाम अन्य पत्तियां भी चाहिए होती हैं। साथ ही इसका गोबर भी बहुत अधिक उत्पादन देने वाला, यानी बेहतर खाद होता है। इसी बीच यह बात सामने आई कि जंगल में तो शेर का खतरा हमेशा से बना ही रहा है। तभी अध्यक्ष जी ने बताया कि पहले गौलव गायों व नागपुरी भैंसों को एकसाथ जंगल में चराने ले जाया जाता था। बाघ के सामने आ जाने पर नागपुरी भैंसें चरवाहे के चारों ओर घेरा बनाकर खड़ी हो जाती हैं और बाघ को रोक देती थीं। बाघ हमारी बूढ़ी गायें खाकर चला जाता था, गांव तरफ नहीं आता था।

सब पारंपरिक तौर पर चल रहा था। तभी सन् 2007 में द्वारकाधीश सामाजिक संस्था ने जर्सी गाय देना शुरू किया। इस कार्य ने सन् 2012 में रफ्तार पकड़ी और सन् 2019 में यह चरम पर पहुंच गया था। दरअसल नागपुर के रसूखदार अफसर

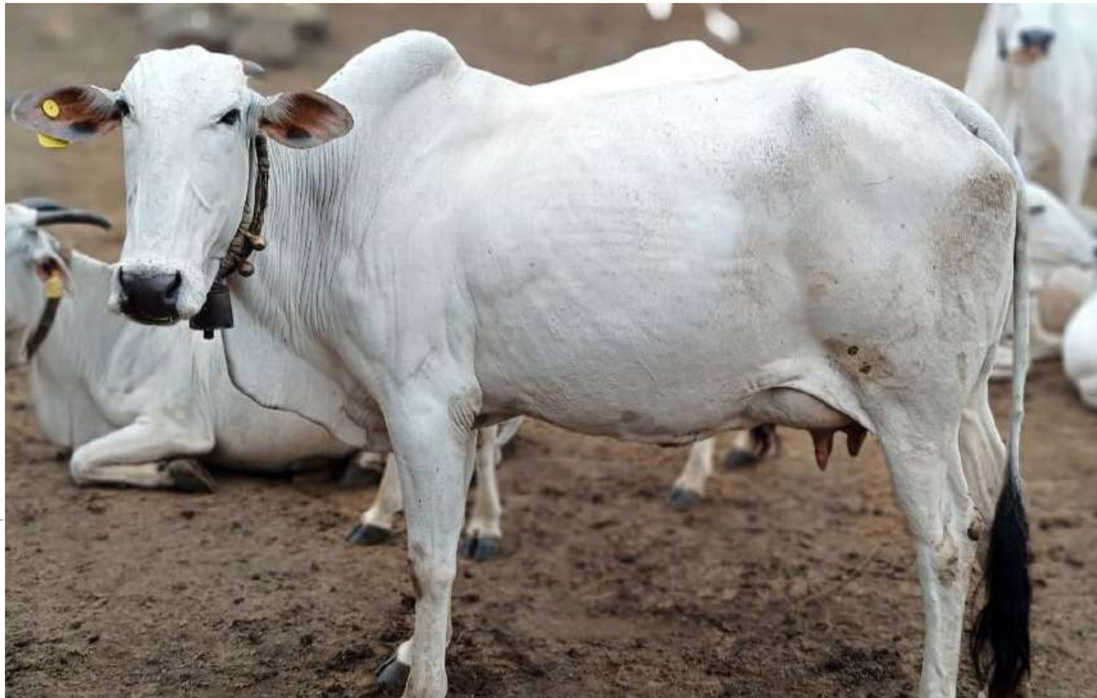

और बड़े व्यापारी, जो स्वयं अपने घरों में गाय नहीं पालना चाहते थे, वे यहां के ग्रामीण परिवारों को अपने द्वारा खरीदकर एक गाय पालने को दे देते थे। उसका बाकी का खर्च ग्रामीण उठाते थे। बदले में एक निश्चित मात्रा में घी उन तक पहुंचाया जाता था। गाय शहरी लोगों की ही संपत्ति होती थी। सन् 2012 में नागपुर स्थित जैव विविधता बोर्ड (Biodivercity Board) ने 33 गांवों में जैव विविधता समितियों का गठन कर दिया। प्रत्येक गांव में कार्य तो मात्र 15-20 दिन होता था, मगर खानापूर्ति पूरे साल की कर दी जाती थी, जबकि यह कार्य तो तीनों मौसम, सर्दी, गर्मी, बरसात में होना चाहिए।

सन् 2012 में यह बात समझ में आई कि स्थानीय नस्ल का कितना ज्यादा महत्व है। तब तक हम लोग जर्सी गाय के अनुभव ले चुके थे। हमने पूरे जिले का सर्वेक्षण किया। हमें यहां मात्र 528 गौलव गायें ही मिलीं। इनमें से एक भी सौ प्रतिशत शुद्ध नस्ल की नहीं थी। यह अधिकतम 87 प्रतिशत ही शुद्ध थीं। इधर सरकार के हिसाब से हमारे इलाके में तीन लाख गौलव गायें थीं। जो भी सफेद गाय दिखी, उसे गौलव बता दिया। इस बीच चर्चा का विषय बदला। हमने पूछा कि आप लोग यहां कब आए। तो एक ऐतिहासिक/पौराणिक उत्तर मिला। उनके अनुसार श्रीकृष्ण रुक्मिणी हरण के लिए इस क्षेत्र, कौंडलपुर आए थे। उनके साथ बहुत से यादव भी आए थे। यह

जो गोधन, यानी गाय वे लाए थे, वहीं गौलव गाय है। रुक्मिणी हरण के बाद कृष्ण तो वायु मार्ग से वापस मथुरा चले गए। यादव (वंश) अपने गोवंश के साथ यहीं रह गए। ये लोग नंद गवली कहलाते हैं और आर्वी ब्लॉक में इनकी जनसंख्या करीब 40 हजार है। ग्रामीणों का कहना है कि हमारा जीवन पूरी तरह से पशुपालन विशेषकर गाय/भैंस के पालने पर ही निर्भर था। भालदेव (आगे चर्चा करेंगे) के दौरान हम लोग ढाई महीने जंगल में और गर्मियों में तीन महीने नदी किनारे रहते थे। न तो हम पर कभी शेर ने हमला किया और न ही सांप ने कभी काटा। अब यह सब शुरू हो गया है।

विदर्भ, यानी धाम के मैदान/विशाल चारागाह, परंतु विगत सरकारों ने यहां बड़े पैमाने पर वृक्षारोपण किया। कहते हैं 33 करोड़ पेड़ लगाए। इससे घास के मैदान खत्म हो गए। गायों के लिए पोहनिया, माखेल, गुंडेल व गुनेर की पत्तियां सबसे अच्छा चारा है, अब यह नहीं मिलतीं। गाय का चारा खत्म हो रहा है। अत्यधिक वनीकरण कितना खतरनाक हो सकता है, विदर्भ इसका भी उदाहरण है। उन्होंने बताया कि इस क्षेत्र के पिंपलकुंटा में मक्खन की साप्ताहिक मंडी लगती थी। महपूरा इलाका घी, दूध व मक्खन से अटा पड़ा था।

यह आसन्न संकट हमारी समझ में आ गया। हमने गांवों में जाकर बैठकें कीं। खेती, दूध और चारे की बात की। गीता जयंती पर हर गांव में मेला लगाया। इस साल मालेगांव काली से अलग-अलग लोगों ने बातें कीं। कुछ वर्षों पहले सभी घरों से गायों का इकट्ठा कर जंगलों में सामूहिक चराने ले जाया जाता था। वन विभाग ने इस पर रोक लगाई। इसका भयानक परिणाम यह निकला बारिश में नमी के दौरान जानवरों के खुरों से जो छोटे-छोटे गड्ढे बनते थे उनसे पानी नीचे जाता था। बड़ी मात्रा में गोमूत्र और गोबर भी खाद और कीटनाशकों का कार्य करते थे। इसके न होने से जमीन ठोस हो गई और इसमें पानी का अंदर रिसाव बंद हो गया। रोपित पेड़ों का विकास भी हो गया और पेड़ों के स्थान पर लेंटेना, तरेटा, रामजंगली तुला जैसी झाड़ियों का साम्राज्य हो गया। बोर टाइगर रिजर्व के अंतर्गत अभी कोर एरिया में 52 गांव आते हैं और बताते हैं कि यहां 10 या 12 बाघ (Tiger) हैं। अब चूंकि जानवर अंदर नहीं जा पा रहे हैं, तो वे मनुष्यों पर हमला कर रहे हैं। नील गायों और जंगली सुअरों को भी अब जंगल में पूरा चारा नहीं मिल पा रहा है, इसलिए खेतों की फसल खा रहे हैं। पहले हम अपने आप साल में गाय का एक बच्चा दे देते थे। अब वो बाघ, बकरी, गाय आदि हमारे घरों

से ले जाता है। एक साल में 12 लोग मारे गए हैं। दीवाली पर पोला के दौरान हम यह करते थे।

हमारी संस्था में वही लोग सदस्य हैं, जिनके पास गायें हैं। हमनें 89 गांवों के 250 परिवारों के साथ काम शुरू किया था। इनमें प्रत्येक परिवार में कम से कम एक गाय तो थी। अब इन परिवारों की संख्या 1000 से ज्यादा हो गई है। हमारी कोशिश है कि प्रत्येक गांव में एक उन्नत सांड अवश्य हो। वैसे राष्ट्रीय गोकुल मिशन के अंतर्गत महाराष्ट्र डेरी डेवलपमेंट बोर्ड के साथ काम कर रहे हैं। जो गायें 5 लीटर दूध दे रही हैं, उन्ही से बच्चा लेकर सांड (Bull) तैयार कर रहे हैं। इस प्रक्रिया से उन्नत या शुद्ध गाय मिलने में कम से कम 10 वर्ष तो और लगेंगे ही। अभी डॉक्टर उपलब्ध हैं। यह भी समस्या है कि सीमन (वीर्य) कहां से लें। नागपुर विद्यापीठ में अच्छी गुणवत्ता वाला उरलीकांचन सांड है, परंतु हम संकर या क्रॉसब्रीड नहीं चाहते हैं।

इस बीच नागपुरी भैंस की बात भी निकल आई। इस क्षेत्र में इनकी संख्या करीब 50000 है। इनके माथे पर सफेद निशान होता है, तो तलवार की शक्ल में नाक तक आता है। यह अत्यधिक गर्मी सहन कर सकती है और 5 से 10 लीटर तक दूध देती है।

वहीं गौलव गाय औसतन 4 लीटर दूध दे पाती है। अपवाद स्वरूप एकाध गाय 10 लीटर दूध भी दे देती है। यहां हर ग्राम पंचायत 1 सांड रखती है। राष्ट्र संत तुकोड़ी राव की ग्राम गीता में भी गौलव गाय का जिक्र है। अभी एक सांड की कीमत 3 लाख रूपए तक है। अभी राहुरी सिमेंटेशन केंद्र का संचालन नेशनल डेरी डेवलपमेंट बोर्ड कर रहा है। हमें बताया कि अंग्रेजों ने सन् 1942 में विदर्भ में हेरीकुंडी में गौलव गाय फार्म स्थापित किया था। वहां अभी 35 सांड हैं, लेकिन उनके चारे तक की व्यवस्था नहीं है। हम लोग यहां से उनके लिए चारा भेजते हैं। वहां की गायों की भी हालत ठीक नहीं है। हमने उन्हें पत्र दिया कि वे हमारी संस्था को यह केंद्र संचालित करने को दे दें, परंतु तैयार नहीं हैं। गौरतलब है, हमारी संस्था सांड को सार्वजनिक ही रखना चाहती है, निजी नहीं।

यहां गांवों में एक व्यक्ति सारी गायों को जंगल में चराने ले जाता है। बदले में उसे एक छतरी और 70 से 150 रूपए तक प्रति गाय प्रतिमाह दिया जाता है। चर्चा के दौरान गांव की सरपंच प्रभा कालोकर भी शामिल हो गई। इस गांव की जनसंख्या 829 है। उनका कहना था कि जब नए सिरे से काम शुरू किया, तो लोग पारंपरिक पद्धति पर लौटने से इंकार कर रहे थे। कुछ ने अपनाया, तो गायों का दूध बढ़ता दिखा। गौलव गाय के 20 लीटर दूध से 1 किलो घी बनता है। इसकी सुगंध ही अलग है। यह 12 साल तक टिका रहता है। आजकल इसका घी 3000 रुपए किलो तक मिल जाता है। उन्होंने बताया कि हम लोग दीवाली से ज्यादा पोला, पालतू पशुओं के त्यौहार को मनाते हैं। गोवर्धन पूजा में जानवरों को पूरा गांव घुमाते हैं। संकट चतुर्थी को भालदेव मनाते हैं। गणेश चैथ से जन्माष्टमी तक 12 दिनों का बारसा मनाते हैं। उन दिनों में दूध नहीं बेचते, जिनके पास नहीं होता, उन्हें 'फ्री' में देते हैं। इन दिनों नदी के पास उगने वाली घास, लवार की घर में लाकर पूजा करते हैं। अपने चारागाह के दो हिस्से एक हिस्सा जून से सितंबर, दूसरा अक्टूबर से दिसंबर में बांट लेते हैं। इस दौरान पहले हिस्से में दोबारा घास हो जाती है, उसे काट लेते हैं। लवान घास से अंदाजा हो जाता है कि इस बार कितनी घास होगी। कम होती है, तो जंगल से लाते हैं।

भालदेव त्यौहार के दौरान संयोग से गाय व भैंस दोनों के बच्चे होते हैं। तब दूध और आमदनी दोनों ही कम हो जाते हैं। सितंबर में सभी जंगली घासों में फूल आते हैं व बीज बनते हैं। परिणामस्वरूप दूध भी ज्यादा होता है और अधिक पौष्टिक भी होता है। इसीलिए स्थानीय गवली समाज में डायबिटीज नहीं के बराबर है। बात का विषय पुनः बदला। बात भविष्य की। सभी का कहना था कि हमारा भविष्य सामूहिक वन अधिकारों (Community Forest Rights) पर निर्भर है। हम अभी 16 ग्रामसभा का प्रस्ताव ला रहे हैं। सभी का कहना था कि टाइगर रिजर्व में सागवान के ही पेड़ लगाए जा रहे हैं। इसके लिए मौखिक आदेश दिया गया है। महत्वपूर्ण यह है कि सागवान के पेड़ के नीचे घास भी नहीं उगती। वन विभाग बिना पंचायत से अनुमति लिए इनका वृक्षारोपण कर रहा है। चराई के लिए लाइसेंस लेना पड़ रहा है, जो कि अमूमन दिया ही नहीं जाता। इस वजह से गाय कम हो रही हैं। सबका कहना था कि जिन किसानों के पास पर्याप्त पशुधन है, वे आत्महत्या नहीं कर रहे हैं। ग्रामीणों ने बताया कि अभी भी प्रत्येक गुरुवार को आर्वी में मक्खन का बाजार (हाट) लगता है। लोणी में बाजार लगता है। इन बाजारों में 4 से 5 क्विंटल मक्खन आ जाता है। मावा भी आता है। सभी लोग बैलगाड़ी से ही आते हैं। पीपलखुंटा में भी बाजार भरता है। अधिकांश मारवाड़ी नागपुर से आते हैं खरीदने के लिए। भैंस के दूध का घी 400 से 500 रुपए किलो व गाय के दूध का घी 2000 रुपए किलो और मक्खन 800 से 900 रुपए किलो बिकता है। गौलव गाय का घी/मक्खन बाजार में बिकने नहीं आता।

इसी बीच हमारी भेंट डॉ. प्रफुल्ल कालोतर से हुई। उन्होंने गोंडवाना विश्वविद्यालय, गढ़ चिरौली से 'Socio Economical Status of Cotton Grover Farmers' विषय पर, अर्थशास्त्री डॉ. कावड़कर के निर्देशन में पीएचडी की है। उनके पास कृषि का अपार अनुभव है। उन्होंने बताया कि कपास की फसल में यदि सिर्फ एक बार गौलव गाय के गोबर से बनी खाद डाल दी जाए, तो किसी भी तरह की रासायनिक खाद की आवश्यकता नहीं पड़ती है। उपज भी बढ़ती है और मिट्टी में पोटाश थोड़ा डालना होता है। सोयाबीन में भी यही स्थिति है सिर्फ बुआई के समय थोड़ा फास्फोरस डालना पड़ता है। यहां की पूरी फसल वर्षा आधारित (Rain Fed)

ही हैं। यहां लोगों ने ट्रैक्टर का प्रयोग कम कर दिया है। धान के खेतों में पूरी तरह से ट्रैक्टर का प्रयोग बंद है। उनका कहना कि किसान परिवारों में वह पहले हैं, जिन्होंने पीएचडी की है। उन्होंने एक बड़ी महत्वपूर्ण बात कही। उनका कहना था कि हम लोग पारंपरिक किसान नहीं, बल्कि पशुपालक हैं। जंगल बंद होने से हम पर और पशुओं पर बराबरी का संकट आया। वैसे अभी भी बहुत से ग्वाले वर्धा में नदी के निकट सपरिवार जाकर फरवरी से जून तक रहते हैं। यह एक तरह से अस्थायी पलायन ही है। वहां अस्थायी घर बनाते हैं। किसान उन्हें पशुओं के साथ खेतों में बुलाते हैं। पानी और चारा देते हैं। बदले में खेत को खाद मिलती है। दूध भी आपस में बांट लेते हैं। दिन भर दूध निकालते रहते हैं। पुरुष गाय चराते हैं और महिलाएं घर का बाकी काम संभालती हैं। यहां ये लोग बिना बिजली पंखे के रहते हैं। जून-जुलाई में बचा हुआ चारा जानवरों को खिलाते हैं। चारा एक बड़ी समस्या के रूप में उभर रहा है। पर्यावरणीय परिस्थितियों के चलते किसानों के खेत खराब हो रहे हैं। स्थानीय सांसद व केंद्रीय मंत्री ने पूर्ति कंपनी के माध्यम से सोलर फेंसिंग का प्रस्ताव पारित करवाया। किसानों ने बैंक से 3-4 लाख रूपए ऋण लेकर फेंसिंग कराई। नए तरह का प्रयोग था। लोगों की रुचि थी। किसानों को लगा था, सुअर व नील गायों से मुक्ति मिलेगी। रात-रातभर जगने से भी छुटकारा मिलेगा, परंतु पूरी योजना असफल हो गई और किसान कर्जे में डूब गए। इतना ही नहीं इसके बाद तोते तुअर की पूरी फसल खा गए। इस सबके बावजूद स्थानीय किसान अभी भी खेती कर रहे हैं और पशुपालक पशुपालन कर रहे हैं। इस तरह हमारी बात पर विराम लगा।

निष्कर्ष

गौलव गाय की शुद्धता को पुनर्स्थापना करने का ट्रस्ट का प्रयास काफी नवाचार लिए हुए प्रतीत हुआ। नस्लीय पुनर्शुद्धता प्राप्त करना एक कठिन कार्य है। इससे पहले गांधी आश्रम, छतरपुर में हमने केन, गाय नस्ल को सुधारने का उपक्रम देखा था। उसमें गिर से सांड को लाकर नस्ल सुधारी जानी थी। यहां परिस्थिति एकदम अलग है। यहां तो अशुद्ध हुई नस्ल को शुद्ध करना है और यह कार्य इसलिए भी बेहद जटिल है कि इस क्षेत्र में न तो एक भी शुद्ध गौलव नस्ल की गाय बची है और न ही कोई सांड (Bull)। ऐसे में यह कार्य अत्यंत कुतूहल पैदा करता है। साथ ही महत्वपूर्ण यह है कि इस हेतु कोई गायों का बाड़ा (Cow Farm) भी नहीं बनाया गया। पूरा कार्य जन-सहयोग व पंचायत के माध्यम से हो रहा है। यह बेहद धीमी प्रक्रिया है और इसमें जबरदस्त धैर्य की भी आवश्यकता है। स्थानीय लोग व ट्रस्ट पूरी वैज्ञानिकता के साथ इस महती कार्य में जुटे हैं। हमने स्थानीय स्तर पर कुछ छोटी उम्र के सांड देखे। पारंपरिक तौर पर जो लक्षण एक गौलव सांड में होने चाहिए वे अब उनमें दिखने लगे हैं। दूसरी-तीसरी पीढ़ी के कम उम्र के सांड 80 हजार से 1.50 लाख रुपए तक में उपलब्ध हैं। कुछ गायें अभी 87 प्रतिशत शुद्धता तक पहुंची हैं। बिना सोचे-समझे होने वाला सघन वनीकरण किस प्रकार घातक सिद्ध होता है, वह भी यहां स्पष्ट देखने को मिला। मनुष्य व जानवरी के अंतर्संबंधों में आत्मीयता भी देखने को मिलती है। विदर्भ, यानी घास के मैदान चारागाहों को कमोवेश बंजर भूमि में बदलते भी यहां देखा जा सकता है।

VIKAS SAMVAD